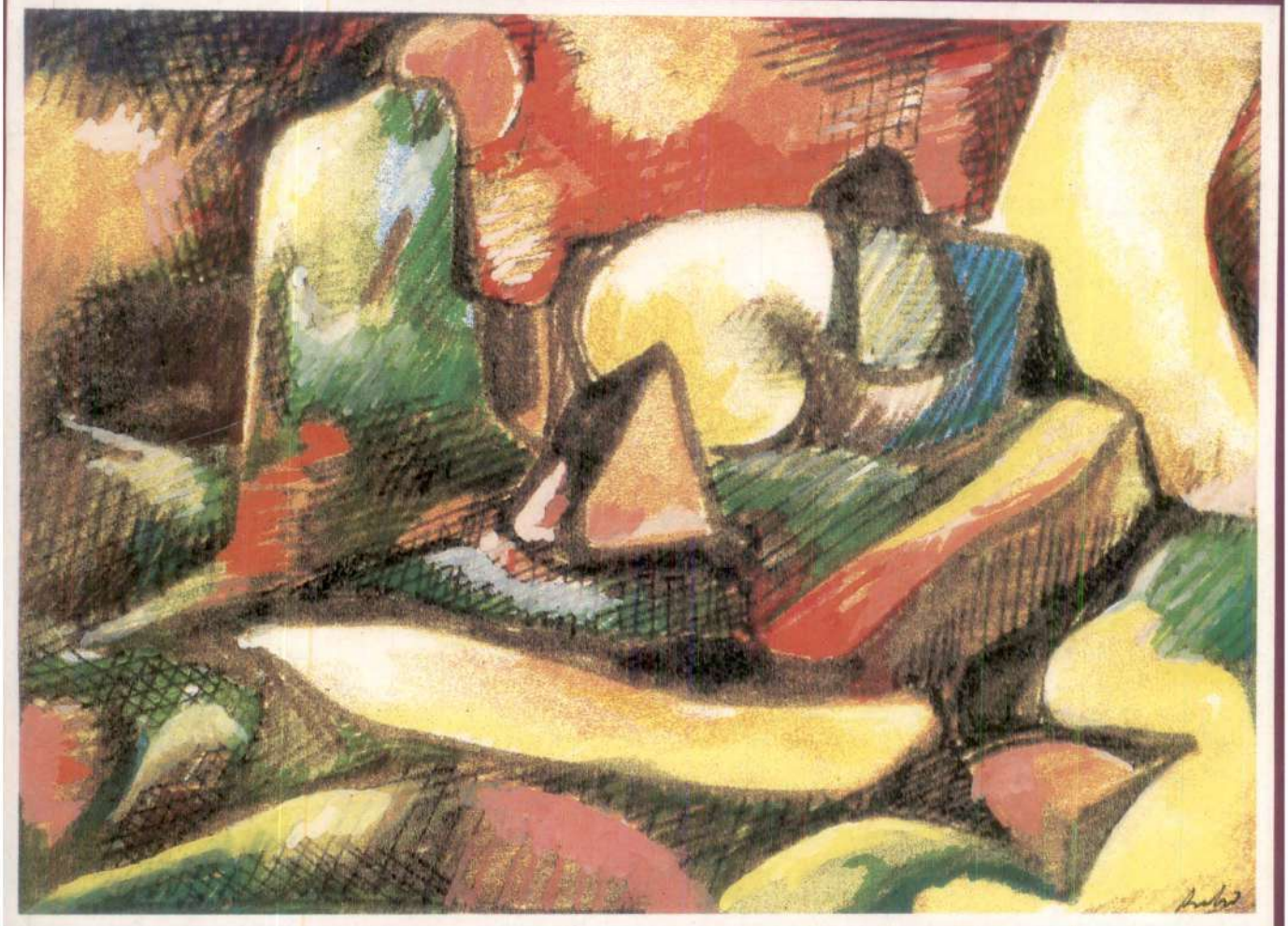
दिसंबर, 2000

सात रुपये

आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



❑ दलित साहित्य की वैचारिक संरचना : देवेंद्र चौबे ❑ दलित साहित्य— एक परिचय : मनोज कुमार कैन ; साथ ही ओमप्रकाश वाल्मीकि, जयप्रकाश कर्दम, रमणिका गुप्ता, महीप सिंह, श्यौराज सिंह 'बेचैन', रजनी तिलक, राजकुमार सैनी तथा तेजसिंह के विचार

❑ साहित्यिक कृतियों पर फिल्में क्यों नहीं बनतीं : विश्वनाथ गुप्त

❑ राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार : युद्धवीर सिंह

❑ विद्या गुप्ता, अमरनाथ श्रीवास्तव, राधेश्याम तिवारी आदि की कविताएं

❑ देवदत्त कौशल की कहानी

भारत को जानने–पहचानने के लिए

पढ़िए :

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित

ज्ञानवर्धक, रोचक और श्रेष्ठ पुस्तकें

प्रकाशन विभाग राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियां और इतिहास, कला, संस्कृति, विज्ञान, वनस्पति, संदर्भ आदि विभिन्न विषयों पर तथा बाल पुस्तकें प्रकाशित करता है। 100 खंडों में संपूर्ण गांधी वाङ्मय और इस पर आधारित सी.डी. विभाग की एक महत्वपूर्ण परियोजना है।

देश तथा देशवासियों के बारे में व्यापक जानकारी देने वाली उपयोगी व ज्ञानवर्धक पुस्तकें हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं। विभाग हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पत्रिकाएं भी निकालता है।

कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

- नेताजी संपूर्ण वाङ्मय (खंड 1 से 9)
- बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष
- भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास (खंड 1 से 4)
- बच्चों के लिए भारत का इतिहास
- अजंता का वैभव
- भारत और मानव संस्कृति (खंड 1 व 2)
- बिहारी सतसई
- योग (सचित्र)

हमारे नए प्रकाशन

- उपग्रह के बाहर-भीतर : भारत के हस्ताक्षर
- नोबेल पुरस्कार विजेता महिलाएं
- प्रकृति से मैत्री
- मदर टेरेसा
- कबीर
- गोंड जनजाति
- राजभाषा हिंदी
- जंगल का न्याय

पुस्तकें इन बिक्री केंद्रों पर उपलब्ध हैं :

☐ पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली-110001 ☐ सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001 ☐ हाल नं. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली-110054 ☐ कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई-400038 ☐8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069 ☐ राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई-600090 ☐ बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004 ☐ प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम-695001 ☐ 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ-226001 ☐ राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004 ☐'एफ' विंग, प्रथम तल, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर-560034 ☐ योजना (गुजराती) अंबिका काम्प्लेक्स, प्रथम तल, यूको बैंक के ऊपर, पालदी, अहमदाबाद-380007 ☐ योजना (असमिया) नौजान रोड, उजान बाजार, गुवाहाटी-781001

विक्रय काउंटर ● पत्र सूचना कार्यालय

☐ 80, मालवीय नगर, भोपाल-462003 ☐ सी.जी.ओ. काम्प्लेक्स, 'ए' विंग, ए.बी. रोड, इंदौर, (म.प्र.) ☐ बी-7/बी, भवानी सिंह मार्ग, जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

इस अंक में

आजकल

वर्ष : 57; अंक : 8; पूर्णांक : 674;
दिसंबर 2000, अग्रहायण-पौष-1922

संपादक
सुभाष सेतिया
सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा
उप संपादक
रेमी कुमारी
आवरण : *प्रबिर सेनगुप्त*
आवरण सज्जा : *अलका नैयर*
संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,
दूरभाष : 3387876, फैक्स : 3387876
E-Mail : indiapub@ida.vsnl.net.in
संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : **डी.एन. गांधी**

चंदे की दरें :
एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये;
दो वर्ष: 135 रुपये; तीन वर्ष:190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष
पड़ोसी देश : 500 रुपये
शेष विश्व : 700 रुपये
चंदे संबंधी पूछताछ :
प्रकाश चन्द आहूजा
विज्ञापन व प्रसार व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 6105590

हमारे विक्रय केंद्र
(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)
नई दिल्ली : बुक सैलरी, पटियाला हाउस;
दूरभाष : 3387983
सुपर बाजार कनाट प्लेस,
दूरभाष : 3313308
दिल्ली : बुक शाप, पुराना सचिवालय;
दूरभाष : 3968906
लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग;
दूरभाष : 208004
कलकत्ता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट;
दूरभाष : 2488030
पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक
बिल्डिंग अशोक राजपथ;
दूरभाष : 653823
मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड,
बालार्ड पीयर; दूरभाष : 2610081
तिरुअनंतपुरम; गवर्नमेंट प्रेस के निकट,
दूरभाष : 330650
हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग,
पब्लिक गार्डन; दूरभाष : 236393
चेन्नई : राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष
: 4917673
बंगलौर : एफ विंग केंद्रीय सदन, कोरामंगला
दूरभाष : 5537244

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग

लेख

6. दलित साहित्य की वैचारिक संरचना

दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लड़ाई पाठ, पाठ की विषयवस्तु, पाठ की अंतर्वस्तु, पाठ के स्वरूप और उसमें आए विचार तथा समाज-दर्शन को लेकर है। दलित लेखक बार-बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिंता जाहिर करते हैं कि अब तक का इतिहास, दलित समाज की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का रहा है। फिर कैसे और कितना एक दलित, गैर-दलित समाज और उसकी चिंता पर भरोसा करे? कारण, भारतीय सामाजिक संरचना में यदि एकाध अपवाद को छोड़ दिया जाए तो गैर-दलितों का, दलित जीवन में प्रवेश लगभग नगण्य रहा है। दलित साहित्य की वैचारिक संरचना पर प्रकाश डाल रहे हैं ***देवेंद्र चौबे***

10. दलित साहित्य : एक परिचय

दलित साहित्य के संदर्भ में 'दलित' शब्द का अर्थ केवल वर्ण व्यवस्था में छोटी जाति के समझे जाने वाले अर्थात् शूद्रों के लिए रूढ़ हो चला है। दलित साहित्य भी इन्हीं लोगों से संबंधित है, जो कि आधुनिक युग में आंदोलन बनकर परिवर्तन द्वारा समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, दलित अस्मिता, स्वावलंबन के साथ अपने अधिकारों की मांग करते हुए संघर्ष कर रहा है। प्रस्तुत हैं दलित साहित्य के बारे में ***मनोज कुमार कौन*** के विचार तथा दलित साहित्य पर कुछ लेखकों से बातचीत।

22. रूसी-हिंदी मैत्री का साहित्यिक दूत

आचार्य बारान्निकोव ने अपनी लेखनी के माध्यम से भारत की देदीप्यमान साहित्यिक संपदा का मूल्यांकन कर रूस एवं यूरोप में ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व में भारत को सम्मानप्रद स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भाषाविद अलेक्सेई पेत्रोविच बारान्निकोव के व्यक्तित्व व कृतित्व पर ***जगदीश प्रसाद डरनवाल 'खुंद'***

28. साहित्यिक कृतियों पर फिल्में क्यों नहीं बनतीं

हमारे देश में न साहित्यकारों की कमी है और न ऐसी साहित्यिक कृतियों की ही, जिन पर फिल्में बन सकती हैं तो फिर सवाल उठता है कि क्यों नहीं साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनतीं? क्यों नहीं आगे आते हमारे साहित्यकार दर्शकों को बेहतर फिल्में देने की दिशा में अपना योगदान करने के लिए? साहित्य की सिनेमा से यह दूरी क्यों बनी हुई है? साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों पर ***विश्वनाथ गुप्त***

32. समर्पित फिल्मकार

हृषीकेश मुखर्जी का कद किसी भी पुरस्कार से बड़ा है। वह उन फिल्मकारों में से एक हैं जिनका रचनाकर्म पुरस्कारों या सम्मानों से नहीं तोला जा सकता। हृषिदा के नाम से लोकप्रिय हृषीकेश मुखर्जी उस पीढ़ी के सदस्य हैं जिन्होंने भारतीय सिनेमा के विकास में अपनी जिंदगी खपा दी। इस बार के दादा साहेब फालके पुरस्कार से सम्मानित फिल्मकार हृषीकेश मुखर्जी की फिल्मों का परिचय दे रहे हैं ***युद्धवीर सिंह***

34. राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

सैंतालीसवां राष्ट्रीय फिल्म समारोह एक तरह से आंचलिक सिनेमा के नाम रहा। आंचलिक फिल्मों ने सर्वाधिक पुरस्कार बटोरे। श्रेष्ठता के लिए जो होड़ इस बार आंचलिक सिनेमा में देखने को मिली, उसकी चौथाई भी हिंदी सिनेमा में नहीं दिखी। इस बार के राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कारों पर ***युद्धवीर सिंह***

कहानी

17. वापसी
देवदत्त कौशल

कविताएं

24. दो कविताएं
विद्या गुप्ता
चांद आज भी उजला है
रति सक्सेना

25. तीन ग़ज़लें
अमरनाथ श्रीवास्तव
दाग धोती औरतें
ओ. पी. श्रीवास्तव

26. पांच गीत
शिवकांत मिश्र 'विद्रोही'

27. दो कविताएं
राधेश्याम तिवारी

पुस्तक चर्चा

44. महाभारत के नारी पात्रः नैतिक मूल्यों का स्वरूप
सुशील कुमार के छह उपन्यासों पर ***बलदेव वंशी***

स्तंभ

2. पत्र

39. प्रतिक्रिया

47. समीक्षा



संपादकीय चूक

● अगस्त अंक में 'भारती-प्रसंग' देखा। भारती जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनुरूप कोई सामग्री अंक में नहीं मिली। भारती जी बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। कहानियां, उपन्यास, नाटक, गीति-काव्य, निबंध और आलोचना की उनकी तमाम पुस्तकें हैं। उनका एक प्रखर सांस्कृतिक पत्रकार का भव्य रूप है। उनके किसी भी रूप का सम्यक विवेचन नहीं मिल रहा है। उनकी कृतियों को जानना ही भारती जी को जानना है। काफी कागज खर्च करके भी उन्हें समग्रता में नहीं समेटा जा सका है। एक ही निबंध में यह मुमकिन भी था। जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा लिखा है, ऊपर-ऊपर सतह पर ही तैरकर रह गए हैं। संपादकीय चूक इसकी वजह लगती है।

अस्सी के दशक का *रविवार* का भारती केंद्रित विशेषांक बहुत याद आया।

–विनय शंकर, देवरिया

क्या औचित्य है?

● यद्यपि भारती जी पर पहले भी काफी कुछ लिखा जा चुका है और जहां तक याद पड़ता है, उनके निधन के तुरंत बाद हिंदी की बड़ी पत्रिकाओं ने उन पर काफी सामग्री दी। ऐसी हालत में, इतने दिनों बाद का यह आयोजन कुछ जमा नहीं। दूसरी बात, सामग्री भी विशिष्ट नहीं है कि इससे भारती पर केंद्रित अंक के इतने विलंब से प्रकाशन का औचित्य और महत्व प्रतिपादित हो ! अधिकांश बातें तो दुहराव मात्र हैं। साक्षात्कार में कुछ भी नया नहीं है और संस्मरण यद्यपि कुछ ताजगी लिए हैं, फिर भी यह पर्याप्त आधार नहीं बनता। प्रेम कपूर का संस्मरण अलबत्ता कुछ अनजानी बातों की जानकारी देने वाली बात है। यह अत्यंत खेदजनक है कि सरकारी पत्रिका में इस अंक में एक भी कहानी ढंग की नहीं है! कहीं इस पत्रिका को भी गजट और सूचना पत्रकों की तरह केवल शोधार्थियों के उपयोग की पत्रिका बनाने का प्रयास तो नहीं चल रहा। वर्तमान गति-मति तो यही इंगित करती है।

–मयंक कुमार, बेगूसराय

दूसरा रुख भी

● धर्मवीर भारती पर केंद्रित इस विशेषांक में लेखकों ने कुछ ज्यादा ही स्तुति गान किया। धर्मवीर भारती निस्संदेह एक महान प्रतिभा थे, किंतु वह प्रतिभा बाद में कुंठित प्रतिभा होकर रह गई। कांता जी की चर्चा पत्र में तो है, किंतु कांता जी से भी एक परिचर्चा सम्मिलित करनी आवश्यक थी। इससे तस्वीर के दूसरे रुख का भी पता चलता। मिथिलेश्वर का यह कहना कि 'भारती जी से मिलने मैं कभी नहीं गया...' कुछ तार्किक नहीं लगता। अक्सर लगातार छपने वाले लेखकों को, संपादक चेहरे से जरूर जानते हैं। इलाहाबाद शहर के– जिसमें वह पले और परवान चढ़े– मनीषियों के विचारों का एक संकलन भी विशेषांक को अमर बना देता। जगदीश गुप्त, नीलाभ, केशवचंद्र वर्मा आदि के विचार विशेषांक हेतु मांगे जाने आवश्यक थे।

–घनश्याम राय, इलाहाबाद

कहानी का अभाव

● 'भारती प्रसंग' के अंतर्गत प्रकाशित लेख, साक्षात्कार व कविताएं पढ़ीं– अच्छी लगीं। हालांकि भारती जी जैसे मूर्धन्य साहित्यकार को महज कुछ पन्नों में समेटना दुरूह है पर आपका प्रयास सराहनीय है। भारती जी एक कथाकार भी थे। कविताओं के अतिरिक्त अगर कहानी भी प्रकाशित की गई होती तो उनकी रचना प्रतिभा का चौमुखी अध्ययन हो जाता। भारती प्रसंग एक कहानी के अभाव में कुछ खटकता-सा है– खासकर भारती जी के प्रशंसकों को।

–अरविंद कुमार त्रिपाठी, गोरखपुर

संक्षिप्त जीवनी भी..

● भारती जी को समर्पित इस अंक में भारती जी के व्यक्तित्व पर विशद प्रकाश डालने वाला से.रा. यात्री का लेख बहुत ही पसंद आया। हर पहलू से हमें भारती जी के व्यक्तित्व से यात्री जी ने बड़े रोचक ढंग से परिचित कराने का प्रयास किया है, जिसे अत्यंत निकट से उन्होंने देखा है। काफी अंतरंगतापूर्वक एक कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और संपादक के रूप में जिस प्रकार भारती जी की उपलब्धियों को उन्होंने चित्रित किया है, उसके लिए वह बधाई के पात्र हैं। धर्मवीर भारती ने *धर्मयुग* के संपादक के रूप में अमिट ख्याति अर्जित की थी और उसे ऐसा स्वरूप प्रदान किया था जिसका स्थान आज कोई भी पत्रिका नहीं ले सकती। आपने भारती जी की कविताओं की एक झलक पाठकों को दिखाने का प्रयास किया है। यह काफी उचित है। दिवंगत साहित्यकार की एक संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करना उपयुक्त रहा होता, जिससे लेखक के बारे में पूरी जानकारी पाठक को मिल पाती। वैसे अजित कुमार और मिथिलेश्वर के आलेखों में भी अंतरंगता है और उनमें भारती जी के व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ जानकारी मिलती है। इंदु जैन ने अपने आलेख 'आधुनिकता के आयाम' में भारती जी के काव्यसृजन पर अच्छा प्रकाश

डाला है, जिसके द्वारा उनके काव्य में देशकाल से जुड़े सत्य का साक्षात्कार कराया गया है। साक्षात्कार एवं देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' तथा प्रेम कपूर के आलेखों ने भारती जी को जानने-समझने का अवसर उपलब्ध कराया है।

बल्लभ डोभाल की कहानी 'किसका दायित्व' में समाजसेवी संस्था के नाम पर महिला कर्मचारियों के साथ पेश आने वाली परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। जाइसा इस कहानी की मुख्य पात्र है जिसे घर की आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर नौकरी करनी पड़ती है और वह नेताजी की हवस का शिकार बनती है और अंतत: उसे जहर खाकर अपने जीवन का अंत करना पड़ता है।

–विपिन बिहारी 'अकुल',
जमशेदपुर

भारती जी की टिप्पणी

● अंक धर्मवीर भारती पर केंद्रित होने के कारण एक-एक अक्षर पढ़ डाला। बहुत आनंद आया।

कनुप्रिया की कविताएं पढ़ने के बाद मैंने अपनी पुरानी डायरी को निकाला और उसमें छात्र-जीवन के समय नोट की गई *कनुप्रिया* की सुंदर-सुंदर पंक्तियों को पुन: पढ़ा। मिथिलेश्वर की कई कहानियां *धर्मयुग* में पढ़ने को मिली थीं, उनका लेख पढ़कर उन कहानियों पर धर्मवीर भारती जी की टिप्पणी की याद ताजा हो गई। वास्तव में मैं कहानी पढ़ने के पहले भारती जी की टिप्पणी पहले पढ़ता था। उसी से कहानी पढ़ने का मन होता था।

–केदारनाथ सविता,
मीरजापुर

आजकल ***का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं***

मैं आपकी पत्रिका *---------- का ☐ एक वर्ष (रु. 70)

☐ दो वर्ष (रु. 135) ☐ तीन वर्ष (रु. 190) का ग्राहक बनना चाहता हूं।**

चंदे का रु. ---------- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं----------दिनांक----------संलग्न हैं

हस्ताक्षर ----------

नाम :----------

पता : ----------

---

fiu % ☐☐☐☐☐

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें । और यह फार्म भरकर : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के नाम भेजें । टेलीफोन : (011) 6105590

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेजी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)। पत्रिकाओं की चंदे की दरें:

एक वर्ष : रु. 70.00, दो वर्ष : रु. 135.00, तीन वर्ष : रु. 190.00

● कृपया अपना चंदा डी.डी./ पोस्टल आर्डर/ मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● किसी भी जानकारी के लिए लिखें:
विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लाक 4, लेवल-7,
रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066

सार्थक प्रयास

● विभिन्न कृतिकारों पर केंद्रित अंकों की तरह ही यह संग्रहणीय और यादगार अंक है। भारती जी जैसे बड़े रचनाकार और संपादक के प्रति *आजकल* के इस आयोजन से मुझे बहुत खुशी हुई है। भारती जी के निधन के बाद उनके प्रति कायम साहित्यिक चुप्पी को तोड़ने का कारगर एवं सार्थक प्रयास आपने किया है।

–मिथिलेश्वर, आरा

कद्दावर संपादक

● 'भारती प्रसंग 'एक तरह से एक सर्वकालीन विलक्षण पत्रकार/संपादक का विशेषांक है। खास साक्षात्कार भला लगा। वहीं मिथिलेश्वर का आलेख बहुत ही सुंदर लगा। संपादक भारती के प्रति व्याप्त अफवाहों का यह खंडन भरा आलेख सचमुच साबित करता है कि वह कितने बड़े कद्दावर संपादक थे। मगर इस अंक से मेरी एक शिकायत भी है। पूरे अंक की चांदनी में बल्लभ डोभाल की कहानी एक पैबंद की तरह है। शायद डोभाल जी भी इसे पसंद नहीं करेंगे। क्या अच्छा होता, अगर आप भारती की कोई एक कहानी डाल देते। मेरी धारणा है कि तब यह अंक और चमत्कृत होकर पाठकों को झंकृत करता।

–अनामी शरण बबल, दिल्ली

अभिभूत हूं

● चित्रात्मक भाषा के कवि डा. धर्मवीर भारती पर विशेषांक प्रकाशित करके आपने दिल जीत लिया। केवल इंदु जैन का लेख स्तरानुकूल नहीं प्रतीत हुआ– तलस्पर्शिता और गहराई का अभाव था। अनुभूतिसंपन्नता और वाग्वैदग्ध्यमय अभिव्यक्ति की कमी थी और ऊबड़-खाबड़ टालू-सी भाषा ने आहत भी किया। जरा धीर-गंभीर होकर सुचिंतित निबंध उन्हें लिखना था, जो वह नहीं लिख सकीं या शायद उनमें भारती जी पर लिखने की भीतरी भाषिक क्षमता ही न हो, कौन जाने, कौन कहे! से. रा. यात्री, मिथिलेश्वर और अजित कुमार के तो लेखनुमा निबंध या निबंधानुमा लेख संस्पर्श संवलित थे, जो दिल को सहज ही छू गए। मैं इनसे अभिभूत हूं। इन्हें साधुवाद दूं– ऐसी मेरी लियाकत नहीं, परंतु कृतज्ञ हूं उनके विचारों के लिए।

–के. शर्मा, रीवा

अमूल्य भेंट

● भारती के समग्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सुसंपन्न अंक संग्रहणीय बन पड़ा है। ऐसे समर्थ एवं सार्थक अंक के लिए हार्दिक आभार। साहित्य-साधक के रूप में डा. धर्मवीर भारती के रचना-संसार की बानगी को हर स्तर पर प्रस्तुत करते हुए आपने साहित्य पाठकों को एक अमूल्य भेंट प्रदान की है। 'एक सारस्वत अनुगूंज' से नए रचनाकारों को भी दृष्टि मिलती है।

– सुरेंद्र वाजपेयी, वाराणसी

संग्रहणीय अंक

● 'भारती प्रसंग' बेहद रुचिकर और संग्रहणीय लगा। भारती जी के बारे में विस्तृत और सूक्ष्म जानकारी देने के लिए साधुवाद। भारती जी के बारे में पहली बार अंदर की बातें जानने को मिलीं। आवरण और अंदर के पृष्ठों पर छपी तस्वीरें संग्रह योग्य हैं। आशा है, भविष्य में इसी प्रकार की जानकारी देंगे।

–बृजनंदन गिरि, मुंबई

आह्लाद

● धर्मवीर भारती के विषय में कुछ अनछुए प्रसंगों को भी उजागर करके आपने पाठकों के मन में आह्लाद भर दिया है। से. रा. यात्री द्वारा उनके विषय में दिया गया संस्मरण वास्तव में इस बात को खुलासा कर देता है कि वह एक निष्ठावान और समर्पित व्यक्तित्व थे। ऐसे व्यक्ति में आत्मसम्मान न होना ही एक आश्चर्यजनक बात मानी जाती। मैं निरंतर तीस वर्षों तक उनकी पत्रिका *धर्मयुग* पढ़ता रहा पर उन्हें ठीक से जानने-पहचानने की पिपासा मेरे मन में बनी हुई थी, जिसे आपने इस अंक में मिटा दिया। काश, वह अभी और जिंदा रहते और हम सभी को साहित्यामृत पिलाते होते। उनकी 'मुनादी' कविता हिंदी भाषा में मील का एक पत्थर ही है। मिथिलेश्वर जी का संस्मरण भी अपने आप में अनोखा है। भारती जी जैसे लेखक और पत्रकार अब उंगलियों पर ही गिने जा सकते हैं। आज तो हर लेखक या कवि पारितोषिक संस्कृति में पोषित होकर फल-फूल रहा है। यही कारण है कि *गुनाहों का देवता* या *कनुप्रिया* जैसी कृतियां आज देखने में नहीं आ रही हैं।

–अमरनाथ मेहरोत्रा, मुजफ्फरपुर

युगपुरुष

● अंक को 'भारती प्रसंग' का नाम देकर पत्रिका की संवेदनशीलता को दर्शाया गया है। इससे संपादक की साहित्य एवं साहित्यकर्मी के प्रति अगाध आस्था स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। धर्मवीर भारती एक युगपुरुष थे। उनके संबंध में लिखी गई सभी रचनाएं व स्तंभ काफी सटीक लगे। उनकी कविताएं व उनके हस्तलिखित पत्र को हू-ब-हू देखकर उनकी भावनाओं को जानने व देखने का मौका मिला।

–मुकेश केसरी, बिथान (समस्तीपुर)

अलग अंदाज

● धर्मवीर भारती की याद में समर्पित अंक मन को प्रफुल्ल कर गया । निस्संदेह, कवि भारती एक संवेदनशील सर्जक थे,

उपन्यासकार भारती का अपना अलग अंदाज था और संपादक भारती एक कर्मठ व्यक्तित्व के स्वामी थे। *कनुप्रिया* की रचनाएं संवेदनाओं और भावनाओं की नदी-सी लगती हैं। *अंधायुग* में कवि का मौलिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। भारती जी का कथन कि 'निजता से अगर मनुष्य का सारा जीवन जुड़ा है, तो उसके साथ आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक हर प्रकार की परिस्थिति जुड़ी है और कबीर की निजता में करघा भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि ईश्वर'- जीवन का यथार्थ वर्णन है। *गुनाहों का देवता* से उपन्यास-अंश देना चाहिए था।

बल्लभ डोभाल की कहानी 'किसका दायित्व' अच्छी है। लेखक का यह सोचना- 'आज के सामाजिक, आर्थिक संतुलन में घोर अव्यवस्था के कारण समय के पहले जो मौत के शिकार हो रहे हैं, उनकी जिम्मेदारी किस पर है?' सभी के सोचने योग्य है।

-विनय, मोहवत छपरा, पूर्वी चंपारण

अपेक्षा

● कौवों के झुंड में मुझे कबूतर की तलाश थी। ऐसी स्थिति में, सावन के उड़ते बादल की श्यामली छांव में यह अंक मेरे हाथ लगा। जिस प्रकार पपीहा स्वाति के बूंद को पाकर हर्षित होता है, मैं भी भारती जी की तस्वीर को देखकर और उनके जीवन प्रसंगों को पढ़कर कृतकृत्य हो गया। मिथिलेश्वर जी का प्रसंग बेहद पसंद आया और उसने मेरे अंदर के लेखकीय संघर्ष को और सबल बनाया।

भारती जी जैसे ही संपादन की अपेक्षा आपसे है।

-राजेश कुमार यादव 'बादल', रायबरेली

जितना पढ़ें, कम है

● भारती जी पर केंद्रित अंक पढ़ा। बहुआयामी लेखक व संपादक से जुड़े विभिन्न संस्मरण, उनके व्यक्तित्व के जाने-अनजाने पहलू, उनकी रचनाधर्मिता की प्रक्रिया के पड़ावों से गुजरते स्मृति अंश, *धर्मयुग* पत्रिका का उल्लेख कुल मिलाकर सम्मोहक रहा। विशेषकर आज की पीढ़ी के हम साहित्य प्रेमियों व लेखकों को अतीत की यह यात्रा अत्यंत रुचिकर व लाभप्रद लगी क्योंकि हम लोग जिन साहित्यिक पत्रिकाओं को मात्र संदर्भ रूप में जानते हैं, उनसे जुड़े ऐसे सारस्वत साधकों की जीवन गाथा के विभिन्न पहलुओं को जितना पढ़ें, कम है। प्रगतिशील लेखक संघ, परिमल, *संगम* पत्रिका, नीलाभ प्रकाशन, भारती जी की संपादकीय टिप्पणियां, अंतरंग प्रसंग आदि अनुभवों को पढ़ना बहुत अच्छा लगा। अंत में एक बात और विनम्रता से कहना चाहता हूं कि यात्री जी ने अपने संस्मरण में भारती जी के जिस अंदाज को शैतानी अंदाज लिखा है, वह अनर्थकारी प्रतीत हो रहा है। क्या उसे शैतानी भरा या शरारती अंदाज नहीं होना चाहिए था?

-अनूप श्रीवास्तव, लखनऊ

मन आनंदित हुआ

● पूरा अंक एक ही बैठक में पढ़ गया। से. रा. यात्री, अजित कुमार एवं मिथिलेश्वर ने जिस विनम्र व संवेदित रूप में भारती जी के संपादक व रचनाकार व्यक्तित्व को परत-दर-परत खोला है, उसे पढ़कर हम जैसे नौसिखुआ रचनाकारों को शीर्षस्थ संपादक से रू-ब-रू होने का मौका मिला। इसके अलावा उनका साक्षात्कार तथा कविताएं सभी कुछ पढ़कर मन आनंदित हो गया।

-शशिभूषण बडोनी, उत्तरकाशी

ध्रुवतारे की भांति

● धर्मवीर भारती को समर्पित और संदर्भित सामग्री भारती जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर गहराई और सूक्ष्मता से प्रकाश डालने में पूर्णतया सफल रही है। अंक पढ़कर भारती जी के यशस्वी जीवन की कम ही बातें अनजानी रह जाती हैं। वह अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से हिंदी साहित्याकाश में ध्रुवतारे की भांति सदैव चमकते रहेंगे।

-चंद्रकांत यादव, चंदौली

नैस्टर्शियम

● कवि, कथाकार, संपादक धर्मवीर भारती के बारे में पढ़कर अभूतपूर्व अनुभूति हुई। वहीं 'नैस्टर्शियम' की कविताएं पढ़कर कुछ वही अनुभूति हुई, जो अनुभूति जोगिया 'नैस्टर्शियम' को देखकर, छूकर और सूंघकर होती है...! भारती जी के कृतित्व पर कवयित्री इंदु जैन और देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' ने बड़ी गहरी विवेचकीय दृष्टि से प्रकाश डाला है- ऐसा कि पाठकों का मन रोशन-रोशन हो जाए और भारती जी की कृतियों को पढ़ने के लिए मन बेचैन और बेकल हो जाए...। बड़ा सुघ्घु और सम्यक विश्लेषण किया है उन्होंने। तहेदिल से उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। कथाकार मिथिलेश्वर और प्रेम कपूर के संस्मरणों को पढ़-बांचकर आज के कुछ तथाकथित साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों की आंखों पर बंधी काली पट्टी खुलनी चाहिए...।

बल्लभ डोभाल की ताजातरीन कहानी 'किसका दायित्व' पढ़कर हाथ चिबुक पर डाले।...ऐसी कहानियां, जो सामाजिक समस्याओं, विद्रूपताओं, विसंगतियों और आर्थिक समस्याओं को एक अहम मुद्दे के रूप में लेकर लिखी जाती हैं..., सिर्फ, सोचने और सोचने के लिए होती हैं... सिर्फ...सोचकर रह जाता हूं...।

-राहुल झा, मुंगेर

विशेष प्रतिक्रिया पृष्ठ 39 पर

दलित साहित्य की वैचारिक संरचना

***दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लड़ाई पाठ, पाठ की विषयवस्तु, पाठ की अंतर्वस्तु, पाठ के स्वरूप और उसमें आए विचार तथा समाज-दर्शन को लेकर है। दलित लेखक बार-बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिंता जाहिर करते हैं कि अब तक का इतिहास, दलित समाज की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का रहा है। फिर कैसे और कितना एक दलित, गैर-दलित समाज और उसकी चिंता पर भरोसा करे? कारण, भारतीय सामाजिक संरचना में यदि एकाध अपवाद को छोड़ दिया जाए तो गैर-दलितों का, दलित जीवन में प्रवेश लगभग नगण्य रहा है। दलित साहित्य की वैचारिक संरचना पर प्रकाश डाल रहे हैं* देवेंद्र चौबे**

हिंदी साहित्य में रचना और रचना के इतिहास की एक लंबी परंपरा रही है। इस बीच साहित्य के इतिहास में अनेक परिवर्तन हुए, जिन्होंने हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को प्रभावित किया। आदिकाल में वीरगाथा साहित्य के समानांतर नाथों और सिद्धों का साहित्य, भक्तिकाल में राम और कृष्ण के पारंपरिक काव्य के समानांतर कबीर और रैदास जैसे संतों की रचनाएं और आधुनिक काल में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिरोध में रचित राष्ट्रीय साहित्य के समानांतर हीरा डोम, अछूतानंद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन आदि की कृतियों और परवर्ती काल में प्रगतिशील आंदोलन के प्रभाव में बाबा नागार्जुन, जगदीश चंद्र, मन्नू भंडारी, अमृतलाल नागर आदि की पुस्तकों-रचनाओं के साथ ही अभिव्यक्ति के नए-नए माध्यमों ने साहित्य की पारंपरिक मुख्यधारा को अनेक दिशाओं में मोड़ने का प्रयास किया। मुख्यधारा में आए इन मोड़ों, परिवर्तनों और प्रभावों ने समय-समय पर कुछ ऐसी रचनाएं प्रस्तुत कीं, जिन्हें केवल वही अनुभूत कर सकते थे, जो वास्तव में रचना के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भ से गुजरे हों। संदर्भ इसलिए कि साहित्य की मुख्यधारा को प्रभावित करने वाले ये रचनाकार और उनकी रचनाएं, जाहिर है, एक ऐसे परिवेश से आ रही थीं, जहां कुछ भी निश्चित नहीं था। न रहने का स्थान, न अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और न ही जीवन का कोई निश्चित लक्ष्य। ग्रामीण जीवन की मुख्यधारा के बाहर सीवान और शहरी जीवन की मुख्यधारा के अंदर झोंपड़पट्टियों के माध्यम से आमतौर पर इनकी पहचान बनती थी।

अपनी आवश्यकता की प्रत्येक वस्तु के लिए इस परिवेश में रहने वाले ये लोग गुलामों की तरह दूसरों पर आश्रित थे तथा चाहकर भी अपने जीवन से संबंधित महत्वपूर्ण पक्षों पर निर्णय नहीं ले पाते थे। उनके जीवन से संबंधित लगभग सभी चीजें बाहरी लोगों द्वारा तय की जाती थीं, जिसे मानने के लिए वे बाध्य थे। भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर हाशिए की जिंदगी व्यतीत कर रहे इन लोगों ने एक तरह से पारंपरिक हिंदू सामाजिक व्यवस्था में गुलामी की यातना को सहा था तथा जब भी मौका मिला, अपने मन की बातों तथा दुख-तकलीफों को टूटे-फूटे शब्दों में समाज के सामने रखा। दलित समाज से जुड़े इन लोगों ने समय-समय पर अपनी भावनाओं को जिस मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया, वह निश्चय ही त्रासदपूर्ण और दिल को झकझोरने वाली है- चाहे वह रैदास की वाणी हो अथवा हीरा डोम की शिकायत। संत कवि रैदास की भक्तिभावना अन्य समाज की निगाह में चाहे कितनी भी ऊंची अथवा महान क्यों न हो, अंतत: उन्हें भी इस सत्य को स्वीकारना पड़ा कि:

रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि दै, औछे करम की नीच।।

जाहिर है, हिंदू समाज की वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा को श्रम विभाजन के सहारे हम कितना भी तर्कसंगत क्यों न बनाएं कि इसका आधार श्रम विभाजन है, न कि जन्म- रैदास की उपर्युक्त पंक्तियां और उनमें अभिव्यक्त उनके मन की पीड़ा यह स्पष्ट कर देती है कि गैर-दलित भारतीय समाज की मानसिक बनावट में वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा की मुख्य भूमिका रही है तथा उसका गहरा असर इस वर्ण और जाति व्यवस्था में सबसे नीचे रहने वाले शूद्रों (दलितों) पर पड़ा है। रैदास की यह आत्म-स्वीकृति दलित जाति और जीवन से जुड़ी जिस दूसरी पीड़ा की ओर संकेत करती है, उसे वही लोग समझ सकते हैं जो उससे गुजर चुके हैं।

यदि हम दलितों के जीवन के वास्तविक अनुभव और उनकी अभिव्यक्ति के प्रसंग में मैनेजर पांडेय के एक साक्षात्कार में उद्धृत ज्योतिबा फुले के उस कथन को ध्यान में रखें कि 'गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं' तो साफ पता चलता है कि दलित जीवन की वास्तविक पीड़ा को वही व्यक्त कर सकता है जो स्वयं दलित है। इसलिए दलित साहित्य पर जब भी चर्चा होती है, यह सवाल बार-बार हमारे सामने उठ खड़ा होता है कि दलित साहित्य क्या है? केवल दलितों द्वारा लिखित

अथवा गैर-दलित लेखकों में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, बाबा नागार्जुन, अमृतलाल नागर, शैलेश मटियानी, गोपाल उपाध्याय, जगदीशचंद्र, मन्नू भंडारी, गिरिराज किशोर आदि द्वारा लिखित साहित्य को भी दलित साहित्य माना जाए?

दलित साहित्य और चिंतन से जुड़े अधिकांश विचारकों तथा लेखकों का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा लिखा गया है चाहे दलित लेखकों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, तुलसीराम, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन आदि हों अथवा गैर दलित लेखकों में राजेंद्र यादव, मैनेजर पांडेय आदि। राजकुमार सैनी, रजनी तिलक जैसे लेखक दलित साहित्य में गैर-दलित लेखकों के दलित लेखन को भी शामिल करने की मांग करते हैं, परंतु इस प्रकार के गैर दलित लेखकों के दलित साहित्य को अधिकांश दलित चिंतक 'दलित चेतना का साहित्य' अथवा 'दलित सहानुभूति का साहित्य' मानते हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि तुलसीराम जैसे कुछ दलित विचारकों का मानना है कि 'आत्मकथा' को छोड़कर कोई भी लेखक (गैर दलित) अन्य साहित्यिक विधाओं में दलित समाज का चित्रण कर सकता है और उसे दलित साहित्य ही माना जाना चाहिए। पर दलित लेखन से जुड़े कुछ लेखक तुलसीराम की इस मान्यता का विरोध करते हैं और स्पष्टत: मानते हैं कि दलितों द्वारा लिखित रचना ही दलित साहित्य है चाहे वह कहानी हो या कविता, उपन्यास हो अथवा नाटक।

वास्तव में दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लड़ाई पाठ, पाठ की विषयवस्तु, पाठ की अंतर्वस्तु, पाठ के स्वरूप और उसमें आए विचार तथा समाज-दर्शन को लेकर है। दलित लेखक बार-बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिंता जाहिर करते हैं कि अब तक का इतिहास, दलित समाज की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का रहा है। फिर कैसे और कितना एक दलित, गैर-दलित समाज और उसकी चिंता पर भरोसा करे? कारण, भारतीय सामाजिक संरचना में यदि एकाध अपवाद को छोड़ दिया जाए तो गैर-दलितों का, दलित जीवन में प्रवेश लगभग नगण्य रहा है। इसीलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे लेखक गैर-दलित लेखकों द्वारा लिखे दलित पाठ, उसमें आए समाज और व्यवहार को लेकर साफ कहते हैं कि 'दलित यदि गैर-दलित के पास आता है तो वह एक गुलाम की तरह आता है। गैर-दलित जब दलित के पास जाता है तो मालिक की तरह। उसका जातीय अहं, श्रेष्ठता भाव उसके साथ होता है। उसके संस्कार उसके साथ होते हैं। सबकी बहुलता में वह दलित जीवन को नहीं देख पाता है। स्पष्टत: वाल्मीकि और उन जैसे अधिकांश दलित लेखक, गैर-दलितों के दलित लेखन को शंका की दृष्टि से देखते हैं।

अगर हम विचार करें तो दलित साहित्य से जुड़े विचारकों को इस प्रकार की धारणाएं यों ही नहीं बनानी पड़ीं क्योंकि गैर-दलित रचनाकारों द्वारा प्रस्तुत दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं की संवेदना और स्वर में एक गहरा फर्क है। उदाहरण के लिए अमृतलाल नागर अपने उपन्यास *नाच्यौ बहुत गोपाल* में जहां मेहतरनी निर्गुणियां के मुख से संस्कृत के श्लोक का पाठ करवाते हुए अंतत: उसे ब्राह्मणवादी संस्कारों में ढाल देते हैं, वहीं गिरिराज किशोर *परिशिष्ट* उपन्यास के नायक अनुकूल को गांधीवाद अर्थात दूसरे अर्थों में कहें तो वर्णाश्रमवाद के फ्रेम में फिट कर देते हैं। स्पष्टत: वर्ण और जाति से मुक्ति की सारी बातें अंतत: वहीं आकर समाप्त हो जाती हैं, जहां से शुरू हुई थीं। मैनेजर पांडेय ने अनूप शुक्ल को दिए गए एक साक्षात्कार में ठीक ही लिखा है कि "हिंदी में दलितों के जीवन पर उपन्यास और कविता लिखने वाले गैर-दलितों ने अपने वर्ग और वर्ण के संस्कारों से मुक्त होकर ही दलित जीवन पर लिखा है। फिर भी, उनके लेखन में अनजाने ही सही, सवर्ण-संस्कार की छाया आ गई है। – नागर जी के उपन्यास में सवर्ण संस्कार हनुमान जी की मूर्ति के सामने प्रकट होते हैं। इस संस्कार की छाया कहीं-कहीं गोपाल उपाध्याय के उपन्यास *एक टुकड़ा इतिहास* में भी है। अगर हम किसी हरिजन पाठक को ही प्रमाण मानें तो नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' में वहां सवर्ण संस्कार की छाया आती है, जहां वह जिंदा जलाए गए हरिजनों को मनुपुत्र कहते हैं और उनको जिंदा जलाने वाले सवर्णों को भी। जाहिर है, नागार्जुन की इस कविता के 'दलित पाठक अपने को मनु का पुत्र कहना अपना अपमान समझते हैं।"

यदि गैर-दलित रचनाकारों में प्रेमचंद को छोड़कर कोई भी लेखक सवर्ण संस्कार से मुक्त दिखाई नहीं पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि प्रेमचंद के समय का भारत पराधीन था। प्रेमचंद पराधीनता के इस सवाल को वर्ण और जाति व्यवस्था से जोड़कर देखते थे तथा इनका अंत भारतीय राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते थे। 1934 में प्रकाशित लेख 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी हैं?' में वह भारत की जाति-व्यवस्था और राष्ट्रीयता पर बातचीत करते हुए स्पष्टत: कहते हैं कि 'राष्ट्रीयता की पहली शर्त है समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना।' इस संदर्भ में उनकी 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुआं', 'मंत्र' और 'आहुति' जैसी कहानियों को देखा जा सकता है, जिनमें वह वर्ण और जाति व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में छाई विषमता का पर्दाफाश करते हुए दलितों के पक्ष में जा खड़े होते हैं। इतना ही नहीं, 1927 में अंबेडकर द्वारा महाद में चलाए गए आंदोलन और 1930 के बाद के मंदिर-प्रवेश आंदोलन का भी वह समर्थन करते हैं, जिसका प्रभाव उनकी उपर्युक्त कहानियों में देखा जा सकता है। शायद यही कारण है कि दलित लेखक और दलित साहित्य के समर्थक गैर-दलित लेखक बार-बार इस सत्य को सामने प्रकट करते हैं कि अंबेडकर के जीवन और दर्शन ने उनके समाज और साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है तथा उन्हें लड़ने की ताकत और जूझने का साहस जबकि गैर-दलित लेखकों और विचारकों का साहित्य तथा चिंतन सहानुभूति, संवेदना और सम्मान से अधिक उन्हें कुछ नहीं देता।

जब दलित साहित्य के सबसे अधिक समर्थ समझे जाने वाले रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि यह कहते हैं कि 'वर्ण व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता-समता-विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित साहित्य की मूलभूत संवेदना है।' (*प्रज्ञा साहित्य*, अंक : मार्च-जून 1995, पृ. 8) तथा इसी क्रम में उनका यह स्वीकारना कि 'अंबेडकर और ज्योतिबा फुले की जीवन-दृष्टि दलित-साहित्य की ऊर्जा है।' (वही) तो यह मान लेना पड़ता है कि दलित जीवन से जुड़ी समस्याओं, विचारों और पीड़ा की वास्तविक अभिव्यक्ति वही कर सकता है, जो स्वयं दलित है और इस संदर्भ में मार्क्सवाद अथवा अन्य प्रगतिशील विचारों की तुलना में ज्योतिबा फुले और डा. अंबेडकर के विचार और जीवन सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसलिए विचारधारा

के स्तर पर दलित लेखक जहां अपने आप को अंबेडकर और ज्योतिबा फुले के निकट खड़ा महसूस करते हैं और उनसे ऊर्जा प्राप्त करते हैं, वहीं अधिकांश गैर-दलित चिंतक मार्क्सवाद के तहत ही उस पर विचार करना अधिक तर्कसंगत समझते हैं। इतना ही नहीं, कुछ प्रगतिशील वामपंथी विचारक तो मार्क्सवाद में ही दलित साहित्य की सार्थकता समझते हैं तथा बार-बार दलित लेखकों को यह सीख देते हैं कि जब तक वे मार्क्सवाद से नहीं जुड़ेंगे, वे और उनका साहित्य कालजयी नहीं हो पाएगा। यद्यपि दलित लेखकों का भी मानना है कि 'मार्क्सवादी विचार और आंदोलन ने दुनिया में जबर्दस्त बदलाव की प्रक्रिया तेज की है, बल्कि मनुष्य को अधिक चैतन्य, जागरूक और क्रांतिकारी बनाया है।' (ओमप्रकाश वाल्मीकि : हिंदी साहित्य में ढूंढने पर भी हमें अपना चेहरा दिखाई नहीं देता', *कल के लिए*, दिसंबर 1998; पृ. 18)। लेकिन इन्हें दिक्कत वहां होती हैं, जब भारतीय संदर्भ में वामपंथी विद्वान, कार्यकर्त्ता और लेखक वर्ग चेतना के साथ मैनेजर पांडेय के शब्दों में 'वर्ण चेतना के वास्तविक तथा संभावित संबंधों की उपेक्षा करते हैं।' (*मेरे साक्षात्कार*; किताबघर, दिल्ली; 1998; पृ. 128)

ओमप्रकाश वाल्मीकि भारत के वामपंथी आंदोलन पर आरोप लगाते हुए स्पष्टत: कहते हैं कि 'इस आंदोलन ने जातिभेद को अनदेखा ही नहीं किया, बल्कि अपने बीच किसी दलित नेतृत्व को उभरने भी नहीं दिया।' (*कल के लिए*; दिसंबर 1998; पृ.19) यही कारण है कि हिंदी का दलित साहित्य मार्क्सवाद की अपेक्षा ज्योतिबा फुले और डा. अंबेडकर से अधिक प्रभावित है तथा इस तरह कहीं-न-कहीं वह अपनी परंपरा और पहचान को मराठी के दलित साहित्य से जोड़ता है। यह गलत भी नहीं है क्योंकि हिंदी के दलित साहित्य को देखने पर साफ पता चलता है कि उसके रचनाकार मराठी के दया पवार, बाबूराव बागोल, नामदेव ढसाल, शरण कुमार लिंबाले आदि की रचनाओं से अधिक प्रभावित हैं तथा उनके लिखने और पढ़ने का तरीका भी लगभग वही है, जो मराठी में रहा है।

मराठी की तरह हिंदी में भी दलित साहित्यकारों ने कहानी, कविता, आत्मकथा, आलोचना, उपन्यास आदि के साथ ही समय-समय पर लेखों और टिप्पणियों के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त किया है तथा अनुवाद एवं पत्रकारिता के माध्यम से हिंदी के दलित साहित्य को समृद्ध। इन कृतियों में एक तरफ जहां दलित रचनाकारों ने मनुवाद का विरोध करते हुए भारतीय समाज में असमानता और अस्पृश्यता पर आक्षेप किया है, वहां दूसरी तरफ अंबेडकर की विचारधारा और दर्शन को आत्मसात करते हुए मानव हित में न्याय और समतामूलक समाज की स्थापना पर बल दिया है।

हिंदी में दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं की शुरूआत यद्यपि कबीर, रैदास, हीरा डोम, निराला, प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों से होती है लेकिन उनकी रचनाओं की पहचान दलित साहित्य के रूप में कम, शूद्र और निम्नवर्गीय समाज पर केंद्रित साहित्य के रूप में अधिक होती हैं। 1960 के आसपास मराठी में दलित आंदोलन के उभार के साथ ही धीरे-धीरे हिंदी में दलित जीवन से जुड़ी रचनाओं का आना शुरू हुआ तथा 1980 तक आते-आते हिंदी में दलित साहित्य के रूप में रचनाएं स्थापित होनी शुरू हो गईं। इसी बीच 1976 में नागपुर में पहली बार दलित साहित्य सम्मेलन का आयोजन हुआ तथा इस आयोजन ने यह सिद्ध कर दिया कि दलित साहित्य के आंदोलन की प्रक्रिया अब धीमी नहीं, तेज होगी। इसी दौरान हिंदी में दलितों द्वारा हिंदू समाज और साहित्य की परंपरा के प्रति विद्रोह के रूप में छिटपुट लेखन की शुरूआत हुई, जिसने धीरे-धीरे एक विशेष प्रकार के साहित्य के रूप में अपनी पहचान स्थापित की।

आज हिंदी में जो दलित साहित्य लिखा जा रहा है, उसका एक बड़ा हिस्सा स्वयं दलितों द्वारा रचित है। हिंदी में इधर जिन दलित लेखकों ने पहचान बनाई है, उनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, कौशल्या बैसंत्री, सूरजपाल चौहान, कंवल भारती, एन.सिंह, एन.आर. सागर, सोहनपाल सुमनाक्षर, कुसुम वियोगी, माता प्रसाद, प्रह्लाद चंद्र दास, बिहारी लाल हरित, कर्मशील भारतीय, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, प्रेम कपाड़िया, सुशीला टांकभौरे, मलखान सिंह, महेंद्र बैनीवाल, सी. बी. भारती, सत्यप्रकाश, दयानंद बटोही, मंसाराम विद्रोही, विमलकीर्ति, कुसुमलता मेघवाल, विपिन बिहारी, तेजसिंह, तेजपाल सिंह, रजनी तिलक, विमल खांडेकर, शत्रुघ्न कुमार, रजत रानी मीनू, सुखबीर सिंह, चंद्रकुमार बरठे, रामरतन पासी, तारा परमार, शरद कोकस, लालचंद राही, रामलखन पाल, कावेरी, रत्नकुमार सांभरिया, राज वाल्मीकि, डी.आर. जाटव, बी.एल. नय्यर, जिया लाल आर्य आदि प्रमुख हैं। इन रचनाकारों में अधिकांश कहानी, कविता, आत्मकथा, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, आलोचना आदि लगभग सभी विधाओं में लिख रहे हैं।

हिंदी के इन रचनाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डा. धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बेचैन, कंवल भारती, कुसुम वियोगी, सूरजपाल चौहान, प्रह्लाद चंद्र दास, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, सुशीला टांकभौरे, प्रेम कपाड़िया, कर्मशील भारतीय, रजनी तिलक आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। ये रचनाकार अपने-अपने क्षेत्रों में गंभीर कार्य कर रहे हैं। इनमें ओम प्रकाश वाल्मीकि ने कहानी, कविता,आलोचना और आत्मकथा के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है तथा उनकी प्रकाशित कृतियों में *सदियों का संताप, बस्स! बहुत हो चुका* (काव्य संग्रह); *जूठन* (आत्मकथा), *सलाम* (कहानी-संग्रह) आदि चर्चित हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में एक ओर जहां ज्ञान और सत्ता के प्रतीक ब्राह्मणवाद और सामंतवाद पर आक्रमण करते हुए दलितों के शोषण, दमन और तिरस्कार का मार्मिक चित्रण किया है वहां दूसरी ओर कविताओं में वर्ण और जाति व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हुए परंपरागत मायाजाल को तोड़ने की कोशिश की है। उदाहरण के लिए 'जाति' कविता की निम्नलिखित पंक्तियां वर्ण-व्यवस्था और धर्म के मायाजाल को तोड़ने की सार्थक कोशिश करती हैं :

स्वीकार्य नहीं मुझे / जाना, मृत्यु के बाद/ तुम्हारे स्वर्ग में।
वहां भी तुम / पहचानोगे मुझे/ मेरी जाति से ही!

(*बस्स! बहुत हो चुका;* वाणी प्रकाशन, दिल्ली; 1997, पृ.78)

जूठन ओमप्रकाश वाल्मीकि और हिंदी की सर्वाधिक चर्चित आत्मकथात्मक कृति है, जिसमें उन्होंने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाले तीन प्रतीकों- क्रमश: शिक्षण संस्थान, गुरु यानी शिक्षक एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखलाने की कोशिश की है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीनों प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है। *जूठन* के नायक मुंशीजी शिक्षण संस्थानों में मार खाते हुए इसीलिए पढ़ाई

जारी रखते हैं कि 'पढ़-लिखकर जाति सुधारनी है।' (*जूठन;* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; 1997; पृ. 40)। लेकिन यह जाति क्या सिर्फ पढ़ने-लिखने से सुधर जाएगी? पढ़-लिखकर और नौकरी प्राप्त कर यह जीवन में पद और धन तो जरूर प्राप्त कर लेगी, परंतु समाज में मान और प्रतिष्ठा कहां से मिलेगी? क्योंकि इतना तो तय है कि जब तक इनके साथ 'दलित' की पहचान जुड़ी हुई है, शेष समाज चाहे इन्हें जिस रूप में अथवा बंधन में स्वीकार कर ले, परंतु विवाह के प्रसंग में स्वीकारने वाला नहीं है। *जूठन* के कुलकर्णी जैसे लोग कितने भी प्रगतिशील क्यों न हों जाएं, जब भी प्रेम अथवा विवाह का प्रसंग आएगा, 'जाति' नामक यह ताकतवर दीवार इनके बीच आकर खड़ी हो जाएगी और फिर ये कभी भी पारंपरिक पवित्रता की उस दहलीज को पार नहीं कर पाएंगे; जिसके चलते समाज की मुख्यधारा के अंदर इन्हें हाशिए पर रखा जाता है।

इसी प्रकार मोहनदास नैमिशराय ने आत्मकथा *अपने, अपने पिंजरे* कहानी-संग्रह *आवाजें* और अन्य साहित्यिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक लेखों के माध्यम से दलित रचनाकारों में एक अलग स्थान बनाया है। 1995 में प्रकाशित *अपने-अपने पिंजरे* हिंदी की पहली आत्मकथात्मक कृति है जिसमें उन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण तथा जाति के कारण हाशिए की जिंदगी व्यतीत कर रहे दलित समाज की महत्वाकांक्षा, समस्या एवं संघर्ष को मार्मिकता के साथ चित्रित किया है। उनकी आत्मकथा का यह अंश जिस मार्मिकता के साथ भारतीय समाज में एक तिरस्कृत जाति के साथ मुख्यधारा के संबंध और व्यवहार का चित्रण करता है, वह अत्यंत अमानवीय है :

'खतना के अवसर पर बकरे को काटा जाता था। ऐसे अवसरों पर रंडियों को भी बुलाया जाता था। वे रात भर नाचतीं। इस जश्न में मुसलमान रात भर पान खाते, हुक्के गुड़गुड़ाते, रंग-बिरंगे खुशबूदार फूलों के गजरे सूंघते, वाह-वाह करते । उनकी पर्दानशीन औरतें दूर से ही यह सब देखती थीं। और हमारी जाति के लोग घड़ी-घड़ी उनके हुक्के भरते थे। उगालदान अपने-अपने हाथों में पकड़े सामने खड़े होते। वे कब थूकें पता नहीं। जब भी वे थूकते, झट से उगालदान आगे कर देते थे। पर पान को हाथ न लगाते थे। जो चीज वे खाएं, उसे छूने का अधिकार नहीं था।...पान खाना उन दिनों बड़ी बात समझी जाती थी जिसे तथाकथित बड़े लोग ही खाते थे। हमें सार्वजनिक रूप से पान खाने की मनाही थी।

(*अपने-अपने पिंजरे*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली; 1995; पृ. 20)

आत्मकथा, कहानी और लेख के अलावा मोहनदास नैमिशराय ने कई महत्वपूर्ण कविताएं भी लिखी हैं। डा. धर्मवीर इन लेखकों में सर्वाधिक विचारोत्तेजक हैं तथा अपनी नई-नई मान्यताओं के कारण उन्होंने हिंदी के स्थापित आलोचकों को झिंझोड़ा है। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा को लेकर उनका यह कथन कि 'मैं दिल से चाहता हूं कि कोई भाषाविद मेरे लिए यह सिद्ध कर दे कि अपनी बनावट में संस्कृत शूद्र विरोधी भाषा नहीं है।' (*हिंदी की आत्मा;* पृ. 198) इसी प्रकार वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल के *हिंदी साहित्य का इतिहास* की प्रथम पंक्ति को ही गलत मानते हैं : 'प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का अविर्भाव माना जा सकता है।' (वही) इसलिए कि इस देश में कभी भी एक भाषा, साहित्यिक भाषा नहीं रही है। 1997 में प्रकाशित *कबीर के आलोचक* उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें उन्होंने कबीर के कुछ समीक्षकों (अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी आदि) से सीधी मुठभेड़ की है। उदाहरण के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर आक्रमण करते हुए उन्होंने लिखा है :

'लेकिन हा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के चिंतन से लड़ने का एक निराला रास्ता अपनाया। उन्होंने सीधी टकराहट के बजाय इसे भीतर से निस्तेज और निष्प्रभावी करना चाहा। वास्तव में, उन्होंने इस मध्यकालीन वेद विरोधी विस्फोट को फ्यूज करने की कोशिश है। उन्होंने कबीर के चिंतन की सारी आग और चकाचौंध खत्म कर दी है। उन्होंने कबीर को इस तरह का बना दिया है कि अब वेद कबीर के हृदय की आग में जल नहीं जाएंगे और ब्राह्मणवाद कबीर के तेज के सामने अंधा नहीं हो जाएगा। उनकी व्याख्या की वजह से वेद और ब्राह्मणवाद कबीर की आग और चकाचौंध से मजे में खेल सकते हैं। हां, डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए कबीर का दर्शन एक खेल ही है- इसे ज्यादा से ज्यादा एकेडेमिक खेल कहा जा सकता है।'

(*कबीर के आलोचक;* वाणी प्रकाशन, दिल्ली; पृष्ठ 73-74)

स्पष्टत: आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा कबीर के मूल्यांकन को लेकर की गई इस दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है कि डा. धर्मवीर कबीर का पुनर्मूल्यांकन करना चाहते हैं। कारण, उन्हें लगता है कि 'कोई भी ब्राह्मणवादी विद्वान शूद्रों और दलितों के ज्ञान और उनकी भाषा को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता। वह जब भी देखता है दलितों के साहित्य को हेय की दृष्टि से देखता है।'(वही) जाहिर है, कबीर के मूल्यांकन से असंतुष्ट डा. धर्मवीर दलित साहित्य के प्रति सवर्ण, खासकर किसी ब्राह्मण के मूल्यांकन को शंका की दृष्टि से देखते हैं तथा इस क्रम में वह किसी पर भी विश्वास नहीं करते हैं। किंतु इतिहास इस बात का गवाह है कि तत्कालीन समय और सवर्ण-समाज के खिलाफ जाकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पहली बार कबीर के व्यापक महत्व को हिंदी की दुनिया में स्थापित किया तथा बतलाया कि कबीर का चिंतन और दृष्टि पारंपरिक आस्था और प्रतिबद्धता की मोहताज नहीं है। उनके 'राम' अपने राम हैं तथा वह सब जगह विद्यमान हैं। उन्हें किसी खास विचारधारा में नहीं बांधा जा सकता है।

इसी प्रकार एन. सिंह जहां अपनी रचना और आलोचना के माध्यम से दलित रचना को परंपरा के विरोध की रचनाएं मानते हैं वहीं, जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य को हिंदू समाज तथा साहित्य के खिलाफ दलित समाज की एक रचनात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। ज्ञातव्य है कि 1996 में प्रकाशित उनका उपन्यास *छप्पर* दलित साहित्य में पहली औपन्यासिक कृति के रूप में चर्चित है जिसमें भारतीय समाज में व्याप्त असमानता तथा अस्पृश्यता का सीधा कारण हिंदू धर्म ठहराया गया है। उनका मानना है कि यह धर्म ही है जो समाज के कुछ लोगों को शोषण और दमन का विशेष अधिकार सौंप देता है। इस क्रम में श्यौराज सिंह बेचैन कृत *हिंदी की दलित पत्रकारिता पर पत्रकार अंबेडकर* सामाजिक संघर्ष और पहचान की प्रक्रिया तीव्र हुई है तथा इससे लेखकों की रचनात्मक ऊर्जा को बल मिला है। यह हिंदी साहित्य के लिए भी एक अच्छा संकेत है क्योंकि पारंपरिक पाठ से अब हिंदी पाठक समाज ऊब रहा है तथा दलित पाठ अपनी विषयवस्तु और नए स्वरूप के कारण पाठकों को आकर्षित

पृष्ठ 16 पर जारी

दलित साहित्य : एक परिचय

दलित साहित्य के संदर्भ में 'दलित' शब्द का अर्थ केवल वर्ण व्यवस्था में छोटी जाति के समझे जाने वाले अर्थात शूद्रों के लिए रूढ़ हो चला है। दलित साहित्य भी इन्हीं लोगों से संबंधित है, जो कि आधुनिक युग में आंदोलन बनकर परिवर्तन द्वारा समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, दलित अस्मिता, स्वावलंबन के साथ अपने अधिकारों की मांग करते हुए संघर्ष कर रहा है। प्रस्तुत हैं दलित साहित्य के बारे में मनोज कुमार कैन के विचार तथा दलित साहित्य से जुड़े कुछ लेखकों से हुई बातचीत।

हिंदी साहित्य को अनेक विचारधाराएं एवं आंदोलन प्रभावित करते रहे हैं। वर्तमान में एक आंदोलन हिंदी साहित्य को प्रभावित कर रहा है। उस आंदोलन रूपी साहित्य का नाम है– दलित साहित्य आंदोलन। यह दलित साहित्य आंदोलन हिंदी में मराठी साहित्य के प्रभाव से उत्पन्न हुआ।

'दलित' शब्द का शाब्दिक और विस्तृत अर्थ दुर्बल, पीड़ित, असहाय, दुखी आदि है। लेकिन दलित साहित्य के संदर्भ में हम 'दलित' शब्द के अर्थ को संकुचित कर देते हैं। इसका अर्थ केवल वर्ण व्यवस्था में छोटी जाति के समझे जाने वाले अर्थात् शूद्रों के लिए रूढ़ हो चला है। तो दलित साहित्य भी इन्हीं लोगों से संबंधित है, जो कि आधुनिक युग में आंदोलन बनकर परिवर्तन द्वारा समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व, न्याय, दलित अस्मिता, स्वावलंबन के साथ अपने अधिकारों की मांग करते हुए संघर्ष कर रहा है। इस साहित्य का मुख्य उद्देश्य तथा वैचारिक पृष्ठभूमि वही है जो कि डा. भीमराव अंबेडकर के वाङ्मय (ग्रंथों) में निहित है।

सभी साहित्यों की आरंभिक स्थिति काव्य की रही है। इस साहित्य का आरंभ भी काव्य से ही हुआ। 1914 में *सरस्वती* पत्रिका में छपी हीरा डोम की भोजपुरी कविता को हिंदी की पहली दलित कविता माना जाता है। इसका संक्षेप में हिंदी अनुवाद है– 'हम लोग डोम हैं, कुएं के पास नहीं जा सकते। गंदला कीचड़ का पानी हम पीते हैं। जूतों से पीट-पीट वे हमारे पैर तोड़ देते हैं। हम लोगों को इतनी यातना क्यों उठानी पड़ती है? जिस हाड़-मांस का हमारा शरीर बना है, उसी का इन ब्राह्मणों का, इन ठाकुरों का बना हुआ है, तो क्या बात है कि जो ये पूजे जाते हैं और हमारी पूजा जूतों से होती है।' इस कविता से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि दलितों की स्थिति क्या थी और 86 वर्षों बाद भी कोई खास सुधार नहीं हो पाया। तभी तो दलित साहित्य आज अपना हक मांगने के लिए खड़ा हुआ दिखता है।

मध्ययुग में कुछ संत कवियों – तुकाराम, नरसी, कबीर, रैदास, दादू, नानक, घासीदास, मीरा, सहजोबाई, मलूक आदि ने दलितों पर हो रहे अत्याचार, अन्याय, पीड़ा एवं शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। लेकिन उसका कुछ भी प्रभाव दलितों के बुरे हालात सुधारने में नहीं हुआ। इसके अलावा इन संत कवियों को दलित पक्षधर कहकर तरह-तरह से अपमानित और तिरस्कृत भी किया गया। अंतत: सदियों से उपेक्षित पीड़ित, तिरस्कृत, शोषित दलितों को आधुनिक युग में अपनी अभिव्यक्ति करने का पूर्ण अधिकार दिलाया संविधान निर्माता डा. भीमराव अंबेडकर ने। उसी अभिव्यक्ति का एक रूप है दलित साहित्य।

वर्तमान में लिखा जा रहा दलित साहित्य वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था का खंडन करके मानवतावाद का समर्थन करता है, साथ ही सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाने की मांग भी करता है। दलित साहित्य वर्षों से बने अंधविश्वासों को तोड़कर आम आदमी के सुख-दुख से जुड़ने की प्रेरणा देता है। जैसी स्थिति दलितों की रही, उसी तरह की स्थिति हमारे समाज में स्त्रियों की है। यह साहित्य स्त्रियों को पुरुष के समान अधिकार देने की भी बात करता है। दलित साहित्य श्रमिक वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है और उनके महत्व को स्पष्ट करते हुए उनमें चेतना का संचार करता है। इसलिए यह साहित्य कुछ लोगों का साहित्य न होकर जन-जन का साहित्य बन जाता है, क्योंकि यह सत्य यथार्थवाद और सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ संबद्ध है। आजकल नाट्य विधा को छोड़कर सभी विधाओं में दलित साहित्य की सर्जना हो रही है। इस तेजी से हो रहे रचनाकर्म के साथ ही दलित साहित्य से जुड़े हुए कुछ प्रश्न भी हमारे सामने आ रहे हैं। दलित साहित्य से संबद्ध कुछ लेखकों से निम्न प्रश्न पूछे गए :

आज के दलित लेखन पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?
आपको हिंदी में दलित साहित्य लेखन की आवश्यकता क्यों महसूस हुई?
आप दलित जीवन पर लिखित गैर–दलित लेखक के साहित्य को भी दलित साहित्य में शामिल करना चाहेंगे?
आप दलित साहित्य आंदोलन को सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलन का अभिन्न अंग मानते हैं?
दलित साहित्य किस प्रकार अन्य साहित्य से भिन्न है?
दलित साहित्य के भविष्य को लेकर आप क्या सोचते हैं?

यहां प्रस्तुत हैं उपर्युक्त प्रश्नों पर दलित साहित्य से जुड़े महत्वपूर्ण लेखकों तथा कुछ अन्य लेखकों के विचार –

''हिंदी साहित्य की जड़ता को दलित विमर्श ने तोड़ा है!''

ओमप्रकाश वाल्मीकि

आज का दलित लेखन जीवंत लेखन है, जो सामाजिक यथार्थ के दग्ध अनुभवों को अपने भीतर समेटे हुए है। हिंदी साहित्य की जड़ता को दलित विमर्श ने तोड़ा है। दलित साहित्य दलित जीवन की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति है, जो कल्पना पर आधारित नहीं, जीवन को उसके उसी रूप में प्रस्तुत करती है जिस रूप में वह मौजूद है।

हिंदी साहित्य के विराट फलक में हम कहां हैं? क्या हिंदी साहित्य बताने में समर्थ है– 'मैं कौन हूं?' जब कहीं दलित हिंदी साहित्य में आया है तो वह एक अकर्मण्य, नाकारा, दीन-हीन ही आया। उसकी सृजनात्मकता, उसकी जिजीविषा, उसका संघर्ष, उसके सरोकार, उसकी संस्कृति साहित्य का हिस्सा नहीं बनी। रविदास आए तो उनका चित्र एक मोची की तरह चित्रित हुआ, कबीर जुलाहे की तरह कपड़ा बुनते हुए...लेकिन तुलसीदास का जीवन-कार्य क्या था? कैसे चलता था उनका पेट? दान पर, भिक्षा पर या अन्य किस तरह, उसे उसी रूप में चित्रबद्ध क्यों नहीं दिखाया...यह जो एक अंतर्धारा है भारतीय समाज की, हिंदी समाज की– दलित के लिए एक गहरी पीड़ा है। वेदना है। इसे समझे बगैर यह समझ पाना भी मुश्किल है कि मुझे दलित लेखन की आवश्यकता क्यों महसूस हुई।

हिंदी साहित्य सवर्ण वर्चस्व की प्रतिछाया है जहां गलत जीवन-मूल्यों को भी महिमामंडित करके स्थापित किया गया है। सार्वभौमिकता और शाश्वतता के नाम पर ब्राह्मणवादी सोच को ही मजबूत किया जाता रहा है। दलित साहित्य में उन मूल्यों को अभिव्यक्ति मिली है जो मनुष्य को मनुष्य की तरह देखने की प्राथमिकता के साथ प्रतिबद्ध है।

किसी भी रचना का मापदंड पाठक, समीक्षक तय करते हैं। मैं यह जरूर कहूंगा कि भारतीय सामाजिक संरचना में गैर-दलितों का दलित जीवन में कितना प्रवेश है? दलित यदि गैर-दलित के पास आता है तो वह एक गुलाम की तरह आता है। गैर-दलित जब दलित के पास जाता है तो मालिक की तरह। उसका जातीय अहं, श्रेष्ठता भाव उसके साथ होता है, उसके संस्कार उसके साथ होते हैं। उन सब की बहुलता में वह दलित जीवन को नहीं देख पाता है। उस पर लिखी गई रचनाएं बाह्य होती हैं, आंतरिक नहीं। उनमें सामंती सहानुभूति का अंश अधिक होता है। सवर्ण और दलित जब आपस में मिलते हैं तो वे दो अलग-अलग राष्ट्र की तरह मिलते हैं। उनके भीतर अनेक शंकाएं छिपी होती हैं, जो उन्हें सहज नहीं होने देती हैं। दलित साहित्य पर होने वाली चर्चाओं में भी यह भावना दिखाई देती है। दलित लेखन उन्हें झूठ, राजनीति प्रेरित लगता है। उसे सहज रूप में स्वीकार करना या उस पर चर्चा करना उनके अहं को स्वीकार्य नहीं है। दोनों बातें एक साथ करते हैं– विरोध भी और गैर-दलित द्वारा लिखी गई दलित विषयक रचनाओं को दलित साहित्य में शामिल करने का आग्रह भी।

दलित साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन का अभिन्न अंग है। उसे कई मोर्चों पर एक साथ लड़ना है। डा. अंबेडकर के जीवन-संघर्ष से ऊर्जा ग्रहण करके दलितों में एक नई चेतना उभरी है, जो अपनी सांस्कृतिक पहचान की जड़ें खोजने के लिए प्रयत्नशील है। वह अपने आप को हिंदू संस्कृति का हिस्सा नहीं मानना चाहता है क्योंकि उस संस्कृति ने उसे एक अछूत, अस्पृश्य, अत्यंत की पहचान दी है, जो उसे हीनताबोध से भर देती है। वह एक गुलाम की तरह नहीं, इंसान की तरह, एक स्वतंत्र नागरिक की तरह जीना चाहता है। दलित साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष को दलित सरोकारों से जोड़ रहा है। दलित अस्मिता को एक नई पहचान दी है दलित साहित्य ने।



ओमप्रकाश वाल्मीकि

दलित साहित्य ब्राह्मणवादी सामाजिक वर्चस्व को स्वीकार नहीं करता। वर्ण व्यवस्था को राष्ट्रीय हित में खतरनाक मानता है। भारतीय समाज व्यवस्था को समतामूलक, स्वतंत्रता की पक्षधर देखना चाहता है। सामाजिक भेदभाव, विषमताओं का समूल नाश कर भाई-चारा, जातिविहीन समाज के लिए सतत प्रयास करना उसकी मूलभूत आवश्यकताएं हैं। मानव-मुक्ति, स्वतंत्रता उसकी प्राथमिकता है, जो उसे अन्य साहित्य से अलग करती है।

यह सवाल पूर्वाग्रहों से उपजा प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य का भविष्य क्या है? कभी यह प्रश्न भी उठाया गया है या नहीं? यदि नहीं तो दलित साहित्य तो अभी ठीक से खड़ा भी नहीं हुआ है और आप भविष्य के लिए चिंतित हैं? यह सवाल औचित्यहीन लगता है। फिर भी जब आप चिंतित हैं तो समझ लीजिए, दलित साहित्य की आंतरिक मानवीय संवेदना और उसकी मानव-मुक्ति की भावना उसे जीवित रखेगी। क्योंकि दलित साहित्य किसी 'आनंद' या 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए नहीं, आदमी को आदमी की तरह जिंदा रखने के लिए, उसकी अपनी निजता को स्थापित करने के लिए अस्तित्व में आया है– वह जिंदा रहेगा और हिंदी साहित्य को एक नया आयाम देगा।

''दलित साहित्य परंपरावादी लेखन के खिलाफ चुनौती बनकर खड़ा है!''

जयप्रकाश कर्दम

दलित लेखन दलितों द्वारा अपने दुख-दर्द, उपेक्षा, उत्पीड़न तथा उसके विरुद्ध संघर्ष और जिजीविषा की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। दलित लेखन की आज अपनी एक जगह है। वर्णवादी लेखकों द्वारा उसका विरोध और चौतरफा हमले इस बात का प्रमाण है कि वह आज एक ताकत बन गया है तथा परंपरावादी लेखन के खिलाफ चुनौती बनकर खड़ा है। साहित्य की प्राय: सभी प्रचलित विधाओं में लेखन हालांकि हो रहा है, किंतु कविता और कहानी को छोड़कर अन्य विधाओं में लेखन बहुत कम हुआ है। यह स्थिति बहुत संतोषजनक नहीं है। दलित लेखन में अभी बहुत संभावनाएं हैं, बहुत सारे आयाम उससे अभी भी अनछुए हैं। दलित लेखन की पहचान और पुख्ता हो तथा वह और बड़ी ताकत और चुनौती के रूप में उभरे, इसके लिए जरूरी है कि नारों से ऊपर उठकर अधिक मात्रा में गुणवत्तापूर्ण साहित्य का सृजन हो।



जयप्रकाश कर्दम

हिंदी साहित्य वस्तुत: हिंदू साहित्य रहा है। सारा का सारा हिंदी साहित्य वैदिक-पौराणिक आख्यान, राम और कृष्ण के चरित और उनकी गौरव गाथाओं पर मुख्य रूप से केंद्रित रहा है और इन सबमें किसी-न-किसी रूप में असमानता, वर्ण-जाति-भेद आदि का पोषण हुआ है। ये सब चीजें दलितों की अस्मिता और अस्तित्व की घोर विरोधी हैं। हिंदी साहित्य ने कभी भी असमानता, अस्पृश्यता के स्रोत, धर्मग्रंथों पर प्रहार नहीं किया। यानी दलितों की पक्षधरता वहां पर कहीं नहीं रही। दलितों का यदा-कदा चित्रण हुआ भी है तो केवल दीन-हीन या याचक के रूप में ही, जिससे दलित मानस में किसी क्रांति चेतना का प्रस्फुटन नहीं होता। हिंदी साहित्य की इसी दलित-विरोधी प्रवृत्ति ने दलितों को स्वयं को अभिव्यक्त करने की ओर प्रवृत्त किया।

दलित लेखकों द्वारा लिखित दलित चेतनोन्मुख साहित्य ही दलित साहित्य है। गैर-दलित इस परिधि में नहीं आ सकता। हां, 'दलित' शब्द की व्याप्ति को अवश्य मैं अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति के अलावा अन्य पिछड़े वर्ग के अंतर्गत आने वाली कामगार जातियों तक करना चाहूंगा। क्योंकि बेशक हिंदू समाज व्यवस्था के अंतर्गत वे सवर्ण हैं, किंतु समाज में उनकी कोई सम्मानजनक स्थिति नहीं है।

दलित साहित्य का आंदोलन वस्तुत: दलित मुक्ति के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन का एक अंग है। दलित साहित्य का मतलब केवल मनोरंजन के लिए कविता, कहानी लिखना भर नहीं है, अपितु साहित्य सृजन के जरिए दलित समाज में संवेग पैदा करना तथा सदियों से सुषुप्त उसके मानस में परिवर्तनकारी क्रांतिकारी चेतना का संचार करना है, ताकि अपने अन्याय और उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने के लिए वह स्वयं को तैयार कर सके।

दलितेतर साहित्य जहां विषमता, विभेद और अन्यायपूर्ण विचार और परंपराओं का पोषण या समर्थन करता है, वहीं दलित साहित्य का दर्शन न्याय और समतामूलक समाज की स्थापना पर बल देता है। इसके अलावा दलितेतर साहित्य में प्रकृति, प्रेम और युद्ध मुख्य प्रतिपाद्य रहे हैं और किसी-न-किसी रूप में आत्मा, पुनर्जन्म, भाग्य, भगवान आदि का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वहीं दलित साहित्य का केंद्र बिंदु मनुष्य है, वह केवल मानव-हित और मानव-उत्थान की बात करता है। दलित साहित्य की संकल्पना में दुनिया में मानव सबसे बड़ी सत्ता है। मनुष्यता से बढ़कर कोई चीज नहीं है। इसलिए दलित साहित्य न वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है, न ईश्वर, आत्मा आदि किसी भी नित्य अथवा शाश्वत सत्ता के अस्तित्व को मानता है। वह कर्म और कर्मफल को भी मनुष्य में निहित मानता है। दलितेतर साहित्य जहां पीछे की ओर देखने वाला जड़ विचार है, वहीं दलित साहित्य आगे की ओर देखने वाला प्रगतिशील विचार है। इसके अलावा दलितेतर साहित्य जहां कल्पनाओं के आकाश में उड़ान भरता है, वहीं दलित साहित्य यथार्थ की कंकरीली जमीन पर लहूलुहान होकर चलता है। प्रगतिशीलता के नाम पर यदि दलितेतर साहित्य यथास्थितिवाद का समर्थन करता है, तो दलित साहित्य आमूलचूल परिवर्तन का पक्षधर है।

दलित-साहित्य अपार संभावनाओं से पूर्ण है। जिस दृढ़ता और प्रतिबद्धता से दलित साहित्य का सृजन हो रहा है और प्रत्येक विधा में परिपक्व रचनाएं सामने आ रही हैं, उससे यह आश्वस्ति हो रही है कि आने वाला समय दलित साहित्य का होगा। विशेष रूप से नए रचनाकारों की रचनाएं ज्यादा ताजगी और स्फूर्ति लिए हुए हैं, जो आगे चलकर दलित साहित्य को मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में समृद्ध करेंगी।

''दलित साहित्य 'अप्प दीपो भव' में विश्वास करता है !''

रमणिका गुप्ता

मेरा यह कहना है कि दलित साहित्य बहुत ही समीचीन है। इसकी जरूरत थी और रहेगी। भारत में गुलामों से बदतर जिंदगी जी रहे दलित वर्ग की चेतना को डा. अंबेडकर ने सही मायने में झझकोरा। उन्हें सम्मानपूर्वक अपनी पहचान बनाकर बिना हीन भावना के जीने के लिए प्रेरित किया और आंदोलन किए। इन्हीं आंदोलनों की उपज है दलित साहित्य। इसी साहित्य के माध्यम से जाति विहीन समाज, रूढ़िवादी अंधविश्वासों, बिक्री परंपरा से मुक्त मानव के निर्माण की उम्मीद की जा सकती है।

क्योंकि अभिजात या मूलधारा का साहित्य हिंदूवादी परंपरा के अनुसार दलित को साहित्य में भी अंत्यज मानता था, इसलिए दलितों की चर्चा भी साहित्य में वर्जित थी। उनकी चर्चा केवल विकृत रूप में ही की जाती थी। दलितों की स्पष्ट और यथास्थिति को उजागर करने के लिए दलित साहित्य की आवश्यकता महसूस हुई।

मेरी राय में दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है, क्योंकि उसने यथार्थ को भोगा है। गैर-दलित केवल संवेदना से लिखता है। उसका आधार सहानुभूति होती है। लेकिन दलित द्वारा कुछ भी लिखा हुआ दलित साहित्य नहीं कहलाता। क्योंकि दलित साहित्य डा. अंबेडकर के नकार एवं स्वीकार पर आधारित है। 22 प्रतिज्ञाओं के दायरे में लिखा जाता है। दोनों की दृष्टि, पीड़ा, आक्रोश, आलंबनों में अंतर है।

मैं इसे सामाजिक आंदोलन का अभिन्न अंग मानती हूं। इसका उद्गम ही आंदोलन से हुआ है। बाबा साहेब के पानी के संघर्ष से लेकर मनुस्मृति जलाने तक का आंदोलन इसके प्रेरणास्रोत रहे हैं। दलित साहित्य 'अप्प दीपो भव' में विश्वास करते हुए मानव को सर्वोपरि मानता है और समाज में परिवर्तन लाना चाहता है। इसके प्रचार से खलबली मच गई है।



रमणिका गुप्ता

दलित साहित्य अभिजात साहित्य से बिल्कुल भिन्न है। वह उनके मिथकों को तोड़कर नए मिथक गढ़ता है या पुराने मिथकों को नए सिरे से परिभाषित करता है। यह साहित्य भाषा, प्रतीक, शैली में भी अभिजात

साहित्य से भिन्न है। यह खुरदरी है और जन से जुड़ी है। यह भाषा चोट करती है, चुभती है। जनवादी पात्र दलित साहित्य से जुड़े हुए हैं– लेकिन उनका दृष्टिकोण केवल वर्गीय रहा है। दलित साहित्य में वर्ग और वर्ण की लड़ाई प्रमुख है।

दलित साहित्य के सामने व्यापक संभावना है। हिंदी में तो यह शुरूआती दौर में है। बहुत कुछ लिखा जाना बाकी है। कविता के क्षेत्र में लोग आगे आए हैं। दलित साहित्य आंदोलन का साहित्य है। समय के साथ उसको बढ़ती हुई संकीर्णता, सांप्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता, आर्थिक नीतियों, निजीकरण के खिलाफ एक जिहाद छेड़ना होगा, ताकि यह दलित जमातों का मार्गदर्शन कर सके।

''नई सदी में दलित साहित्य की आवाज और मुखर होगी !''

महीप सिंह

हिंदी दलित साहित्य मराठी से प्रोत्साहन पाकर ही आगे बढ़ा। हिंदी का दलित साहित्य प्रयासरत तो है लेकिन उसे वह स्तर प्राप्त नहीं हुआ जो किसी भी अन्य साहित्यिक कृति से अपेक्षित होता है। अधिकांश दलित रचनाएं आक्रोश भरी प्रतिक्रिया से भरी रचनाएं हैं। किंतु कुछ रचनाएं अवश्य आई हैं, जो ऐसे साहित्य के प्रति आशान्वित करती हैं, जैसे– *जूठन* (ओमप्रकाश वाल्मीकि) दलित मानसिकता पीड़ा को व्यक्त करने के साथ ही साथ साहित्यिक रचना भी है।

हिंदी में दलित साहित्य की आवश्यकता कई सदियों से महसूस की जा रही थी। कबीर दास सबसे बड़े प्रमाण हैं इस बात के। परंतु सवर्ण मानसिकता में ऐसे साहित्य को उभरने का कम अवसर प्राप्त हुआ। मराठी में आंदोलन प्रारंभ हुआ। उससे हिंदी में लिखने वालों को प्रेरणा मिलने लगी। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिंदी भाषी क्षेत्र में दलितों के प्रति जो सतत अन्याय हो रहा है, उसे शब्द देने की बहुत आवश्यकता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं उसे शामिल करना चाहूंगा। मैं समझता हूं कि दलित साहित्य के सामने दृष्टि यह होनी चाहिए कि कोई लेखन किसी भी वर्ग का लेखक उस पीड़ा को केवल सहानुभूति के स्तर पर नहीं बल्कि स्वयं पर घटित अनुभव के रूप में आत्मसात करता है और उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जो दलित परिवार में जन्मे लेखक हैं, वे तो अपनी आंख खोलते ही ऐसी पीड़ा महसूस करते हैं। परंतु जो ऐसे परिवारों में नहीं जन्मे, वे भी बहुत हद तक इस पीड़ा को अनुभव कर सकते हैं और उसे अभिव्यक्ति दे सकते हैं।



महीप सिंह

निश्चित रूप से दलित साहित्य आंदोलन व्यापक स्तर पर सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आंदोलन भी है। क्योंकि जब तक इस देश में सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना में दलितों के प्रति बनी हुई मानसिकता में परिवर्तन नहीं होगा और राजनीति में दलितों की आवाज नहीं उभरेगी तब तक दलितों की स्थिति में कोई व्यापक अंतर नहीं आ पाएगा।

साहित्य, साहित्य होता है। देखना यह होता है कि उस साहित्य से निकलने वाला स्वर किस बात को रेखांकित करता है। दलित साहित्य सदियों से बनी हुई सवर्ण मानसिकता और उससे उपजे साहित्य के सामने एक चुनौती बनकर खड़ा होता है। यह चुनौती ही उसे सवर्ण मानसिकता वाले साहित्य से पृथक करती है।

मुझे लगता है, नई सदी में दलित साहित्य की आवाज और मुखर होगी। स्वयं दलित समाज से अच्छे लेखक इस क्षेत्र में आएंगे। सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत तेज होगी। इसलिए ऐसे साहित्य के लिए इस नई सदी में मैं असीम संभावनाएं देख रहा हूं।

''दलित साहित्य में श्रम, संघर्ष और सपनों की जीवंत आशाएं मौजूद हैं !''

श्यौराज सिंह 'बेचैन'

आज के दलित लेखन ने अपने इतिहास क्रम में विकास का एक चरण पूरा कर लिया है। नई सदी की शुरूआत के साथ ही दलित लेखन में एक जरूरी बदलाव आया है। खासकर चेतना के स्तर पर अब दलित लेखक अधिक जिम्मेदारी और व्यापक दलित भारत की मुक्ति की सोद्देश्यता को ध्यान में रखकर लिख रहे हैं।

लेखन अभिव्यक्ति का एक रूप है जिसका मानवीय हक प्रत्येक व्यक्ति को है। पर दलितों से ये हक छीन लिए गए थे। उन्हें कई सदियों तक मूक-अवाक तथा पशु तुल्य बनाकर रखा गया। इसी कारण वह कई युगों तक इतिहास में खुद को दर्ज नहीं करा पाए। दलितों के लिए किसी ने लिखा नहीं और लिखने वालों के दुराग्रह दलित विरोधी थे। उन्होंने वास्तविक स्थिति की अपेक्षा दलितों का कुरूप चित्रण किया। उनमें आत्मसम्मान जगाने के बजाय हीनता बोध भर दिया। पर रैदास, कबीर, अछूतानंद और डा. अंबेडकर के सतत सृजनात्मक प्रयासों के फलस्वरूप इधर संविधानोत्तर काल में दलित स्वयं सृजन करके अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का उपभोग करने लगे।

दलित और गैर-दलित के दृष्टिकोण में स्पष्ट अंतर होता है। गैर-दलितों का दलित विषयक साहित्य और दलितों का साहित्य एक साथ नहीं रह सकते। दलित साहित्य में श्रम, संघर्ष और सपनों की जीवंत आशाएं मौजूद हैं जबकि गैर-दलित साहित्य में सुविधाएं, सुख, निर्जीवता, अतीत मुग्धता और यथास्थिति बनाए रखने की समता विरोधी मानसिकता है। कुल मिलाकर ये तत्व एक-दूसरे के विरोधी हैं। एक वर्ण श्रेष्ठ, दूसरा वर्ण व्यवस्था के बाहर। इनमें मेल कहां हो सकता है?



श्यौराज सिंह 'बेचैन'

निश्चित रूप से दलित साहित्य सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन का

अंग है, बल्कि ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। हिंदी क्षेत्र के गैर-दलित बुद्धिजीवियों ने एक भ्रम फैला रखा है कि हिंदी में सामाजिक आंदोलन दलितों के बीच नहीं हुए। हिंदी में मीडिया दलित विरोधी तत्वों के कब्जे में रहा। इसलिए दलित साहित्य को नोटिस नहीं किया गया। रैदास के बाद के तमाम दलित लेखक गायब कर दिए गए। अछूतानंद तक का जिक्र सवर्ण साहित्य में नहीं मिलता। हिंदी के अलावा अब दलित साहित्य सृजन अन्य भाषाओं में भी हो रहा है। यह सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन का ही परिणाम है।

दलित साहित्य की स्पष्ट भिन्नता का कारण वर्ण व्यवस्था रही। जिन जातियों को अस्पृश्य बनाकर गांव से बाहर रखा गया और जिनसे विकास संबंधी संवाद नहीं रखे गए, उन जातियों की सोच, स्वभाव, संस्कार, भाषा, विचार धर्म, संस्कृति रीति-रिवाज अलग हो गए। इसी कारण उनकी अभिव्यक्ति भी अलग हुई।

संभावनाएं पर्याप्त हैं। हजारों साल से प्रतिबंधित रहा साहित्य बड़ी व्यग्रता, विद्रोह और विस्फोटक ऊर्जा के साथ सामने आ रहा है। बस, इस ऊर्जा को सकारात्मक दिशा में लगाकर भारतीय साहित्य की अस्वस्थता और दीनता दूर करके विश्व साहित्य में दलित साहित्य के प्रमुख योगदान को सामने लाना है। साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं है, जिसमें दलित साहित्य का सृजन न हो रहा हो- अतएव भविष्य उज्ज्वल है।

''दलित साहित्य वंचित समाज को लड़ने के लिए प्रेरित करता रहेगा !''

रजनी तिलक

आज का हिंदी दलित लेखन अपनी शैशव अवस्था में हैं, जिसका लक्ष्य है फासिस्ट, दमनकारी विचारधारा को मजबूत करने वाली पूंजीवादी-ब्राह्मणवादी व्यवस्था को ध्वस्त करना।

हिंदी ललित साहित्य में जहां ज्यादातर मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण से समस्याओं और प्रेम की कपोल कल्पनाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति व विवेचना का वर्चस्व रहा, वहीं साहित्य में समाज के वंचित तबके- पिछड़े, दलित व स्त्रियों की जीवन की विवशताओं, विसंगतियों, उत्पीड़न, शोषण को दया का पात्र बनाया और उनकी आवाज को स्थान नहीं दिया गया। अत: उत्पीड़न, शोषण से मुक्ति की छटपटाहट व्यक्त करने की अभिव्यक्ति में दलित साहित्य अंकुरित हो गया।



रजनी तिलक

दलित जीवन पर लिखित और गैर-दलित लेखक के साहित्य को शामिल करने में कोई हर्ज नहीं- खासतौर से पिछड़ों, अल्पसंख्यकों, प्रगतिशील महिला लेखन को, क्योंकि जिन तबकों के शोषण का आधार जन्माधारित है, उन्हें एक साथ आकर शोषण के विरुद्ध मजबूत मोर्चाबंदी करनी चाहिए। खासतौर से महिला साहित्य।

दलित साहित्य बेशक दलित आंदोलन का सूक्ष्म पहलू है, किसी भी आंदोलन में साहित्य की भूमिका उस समाज की सांस्कृतिक व सामाजिक परिवर्तन की धारा में परिवर्तन करती है।

दलित साहित्य अन्य साहित्य से निश्चित रूप से भिन्न तो है ही, वैकल्पिक भी है। दलितेतर साहित्य जहां मध्यमवर्गीय समस्याओं और घटनाओं को शृंगार, वीर रस की अतिशयोक्ति में डुबोकर महिमामंडित कर जनसाधारण को आनंदित करता है, वहीं दलित साहित्य सामाजिक दुख, शोषण की मीमांसा से समाज को रू-ब-रू कराता है। वह इन दुखों का स्रोत या कारण आत्मा-परमात्मा, जन्म-पुनर्जन्म की मिथ्या कल्पना को नकारकर, इसके मूल मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की प्रवृत्ति, उसकी आधार वर्ण व्यवस्था के पोषकों की सत्ता को चिह्नित करता है।

दलित साहित्य की संभावना आज के असमानता व भेदभावपूर्ण समाज में और बढ़ जाती है- खासतौर से तब जब समाज का एक तबका सारी सुविधाएं व तरक्की पाकर भी संतुष्ट नहीं है और उसका आरोप उस तबके पर लगाता है, जो तमाम सुविधाएं व मानवाधिकारों से वंचित है। दलित समाज को अब मालूम पड़ रहा है कि उनके हितों का हनन हो रहा है। दलित साहित्य भविष्य में हितों से वंचित दलित समाज को लड़ने के लिए प्रेरित करता रहेगा, सर्जनात्मक शक्ति द्वारा।

''दलित साहित्य को ललित साहित्य भी होना चाहिए !''

राजकुमार सैनी

यद्यपि आधुनिक हिंदी साहित्य में दलित साहित्य का आविर्भाव मराठी के दलित साहित्य के प्रभाव-स्वरूप हुआ तथापि उसके अपने मौलिक और नैसर्गिक कारण भी रहे हैं। चूंकि हिंदी-भाषा समाज में दलित जातियों के साथ हजारों सालों से दुर्व्यवहार होता रहा है और उसकी अभिव्यक्ति अपने-अपने ढंग से समय-समय पर हुई है तथापि बीसवीं शताब्दी में जैसे-जैसे जनता के जागरूक होने की प्रक्रिया तेज हुई है, दलित जातियों में आत्माभिव्यक्ति की लालसा प्रखर से प्रखरतर होती गई है। द्विवेदी युग में *दलित कुसुम* शीर्षक से एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, लेकिन आधुनिक संदर्भ में दलित साहित्य के कुछ विशिष्ट उदाहरण उल्लेखनीय हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा *जूठन,* मोहनदास नैमिषराय की आत्मकथा *अपने-अपने पिंजरे,* कंवल भारती, श्यौराज सिंह बेचैन, मलखान सिंह आदि की कविताएं, जय प्रकाश कर्दम का उपन्यास *छप्पर,* माता प्रसाद द्वारा रचित *दलित जीवन के दस्तावेज,* सोहनपाल सुमनाक्षर का *अंधा समाज और बहरे लोग* आधुनिक दलित साहित्य की विशिष्ट उपलब्धियां हैं। डा. धर्मवीर, डा. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, डा. भगवान दास वर्मा आदि समीक्षक दलित हिंदी साहित्य के



राजकुमार सैनी

व्याख्याता हैं। दलित लेखन पर अपनी प्रतिक्रिया-स्वरूप मैं यह कहना चाहूंगा कि दलित साहित्य को ललित साहित्य भी होना चाहिए, अन्यथा जैसा कि जर्मनी के महान कवि हाईने ने परिहास करते हुए एक बार कार्ल मार्क्स से कहा था, गुलाब की क्यारी में केवल आलू बोते रहना सार्थक नहीं हो पाएगा।

यह प्रश्न ऐसा ही है जैसे कि पूछा जाए कि मनुष्य को साहित्य लिखने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई। जब संवेदनशील मनुष्य उत्पीड़ित होता है तो वह आत्माभिव्यक्ति के लिए छटपटाता है। तथापि जब तक वह जागरूक और सक्षम नहीं हो पाता तब तक अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता। बीसवीं शताब्दी में अन्य भाषा-भाषी दलित समाजों की ही तरह हिंदी-भाषी दलित समाज ने भी करवट ली है। उसमें शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ा है और हिंदी-भाषी दलित समाज संगठित होकर जागरूक और सक्षम हो सका है। इसीलिए हिंदी में दलित साहित्य लेखन की उसे आवश्यकता भी महसूस हो रही है।

मेरा यह अभिमत है कि दलित चेतना का साहित्य लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। साहित्य का संबंध संवेदना से है। दलित जाति का व्यक्ति भी व्यवस्था में बिकाऊ माल की तरह संवेदनशून्य हो सकता है और हमारे समाज में इसके कई उदाहरण हैं। दूसरी ओर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसे महाकवि भी हुए हैं जिन्होंने पहली बार हिंदी कविता में दलित शब्द का प्रयोग किया। निराला का प्रसिद्ध गीत है : *दलित जन पर करो करुणा / दीनता पर उतर आए / प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा !* मैं जानता हूं कि आज की दलित चेतना करुणा-अरुणा में आस्था नहीं रखती, वह आक्रामक तथा संक्रामक है और पलटकर प्रतिवाद करने के लिए तत्पर है। मेरा विश्वास है कि प्रेमचंद का अधिकांश कथा-साहित्य, निराला की 'कुल्लीभाट', 'चतुरी चमार', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'राजा साहब को ठेंगा दिखाया' और 'देवी' जैसी कालजयी रचनाएं दलित चेतना की संवाहक हैं। इसी प्रकार नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' जैसी काव्य-रचना और उनकी कुछ कहानियां, फणीश्वरनाथ रेणु और मधुकर सिंह की कुछ रचनाओं को दलित साहित्य के अंतर्गत रेखांकित करना चाहिए। दूसरी ओर हिंदी में दलित जाति के कुछ ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचनाओं को दलित साहित्य में शामिल नहीं किया जा सकता। यहां उनके नाम लेकर मैं उन्हें नाराज करने की जहमत नहीं उठाना चाहता। मुल्कराज आनंद की विश्वविख्यात कृति *अनटचेबल* को भी दलित साहित्य का एक उदाहरण मानना चाहिए। मैं यहां एक बात का और उल्लेख करना चाहूंगा कि भगवान बुद्ध जाति से दलित नहीं थे, किंतु वह दलितों के मसीहा हैं।

दलित साहित्य आंदोलन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आंदोलन का एक अभिन्न अंग है; इसमें कोई संदेह नहीं। मैं यह भी मानकर चलता हूं कि दलित साहित्य के बिना साहित्य का भविष्य सार्थक नहीं हो सकता। मुझे यह कहने में भी कोई गुरेज नहीं है कि ब्राह्मणवाद, ठाकुरवाद अथवा बनियावाद जितना अवांछनीय है, उतना ही अवांछनीय शूद्रवाद भी हो सकता है। कोई भी श्रेष्ठ संस्कृति अथवा कोई भी श्रेष्ठ साहित्य अपने समाज के एक हिस्से, एक वर्ग, एक जाति का पक्षधर होकर सार्थक नहीं हो सकता। अंततः उसे पूरे समाज के कल्याण के साथ अपने को जोड़ना ही पड़ता है। आज नहीं तो कल, दलित साहित्य को भी पूरे समाज के श्रेष्ठ साहित्य की मुख्यधारा में शामिल होना होगा और वह दिन आएगा जब ऐसा संभव हो पाएगा- ऐसा मेरा विश्वास है।

दलित साहित्य कई बातों में दूसरे प्रकार के साहित्य से अलगाया जा सकता है; जैसे कि उसमें जातीय अपमान और उपेक्षा की जो प्रामाणिक आत्माभिव्यक्ति हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। दलित साहित्य में एक प्रकार की आक्रामकता भी है जो उसे अन्य प्रकार के साहित्य से अलग करती है। दलित साहित्य की एक विशेषता यह है कि उसमें सवर्णों के प्रति घृणा, भर्त्सना और व्यंग्य के स्वर गूंजते हैं। दलितों के साथ सदियों से जो व्यवहार होता आ रहा है, उसे देखते हुए यह अकारण नहीं है। मेरा मानना है कि जैसे-जैसे समाज में दलितों की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में गुणात्मक सुधार होगा, वैसे-वैसे उनके साहित्य में भी घृणा और आक्रोश का स्वर कम होता जाएगा।

हिंदी का दलित साहित्य अत्यंत संभावनापूर्ण है। उसका बहुत-सा अंश श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी पर खतरा उतरता है, लेकिन सारा दलित साहित्य ऐसा नहीं है। कहीं-कहीं तो उसकी साहित्यिकता भी संदिग्ध है, इसीलिए मैंने प्रारंभ में ही कहा कि दलित साहित्य को ललित साहित्य भी होना है; लेकिन जैसा कि मैं कह चुका हूं, दलित साहित्य का बहुत-सा अंश ऐसा है जो सफल और सार्थक साहित्य कहलाने का अधिकारी है। हिंदी साहित्य के समीक्षक और आलाचकों की उदासीनता धीरे-धीरे अब कम होने लगी है और वे दलित साहित्य का मुख्यधारा के साहित्य के साथ उल्लेख करने लगे हैं। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बढ़ेगी और हाशिए से हटकर हिंदी का दलित साहित्य मुख्यधारा से और अधिक जुड़ेगा। यह जुड़ाव और लगाव दलित साहित्य के लिए तो लाभकारी होगा ही, समग्र हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को भी इसका प्रचुर लाभ मिलेगा।

''दलित साहित्य अपनी अलग पहचान बनाने में सफल रहा है !''

तेजसिंह

मेरी नजर में आज का दलित लेखन सही दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है, क्योंकि उनके पास डा. अंबेडकर की सुनिश्चित विचारधारा और समाज दर्शन है, जिससे प्रेरणा लेकर दलित लेखक सृजनात्मक लेखन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। वैसे भी आज दलित लेखन साहित्य की सभी विधाओं में हो रहा है। यह एक अच्छा लक्षण है। अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार दलित लेखक भी सबसे पहले कविता की ओर कुछ ज्यादा ही उन्मुख हुए हैं। आरंभिक दलित कविता प्रचारात्मक, पर सोद्देश्य रही थी। लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने इस प्रचारात्मक प्रवृत्ति पर अकुंश लगाया और सामाजिक यथार्थ के अंतर्विरोधों पर ध्यान केंद्रित करने लगे। इधर हिंदी का दलित लेखन कच्चे-पक्के आत्मकथ्यों के रूप में भी सामने आया है- मराठी साहित्य की आत्मकथाओं के प्रभाव से। जबकि उन्हें आत्मकथ्यों या आत्मकथाओं के बजाय कहानी, उपन्यासों पर ज्यादा से ज्यादा ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इस विधा में वे अपनी बात ज्यादा प्रामाणिक और यथार्थवादी ढंग से कह सकते हैं।



तेजसिंह

प्रत्येक साहित्य अपनी

तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव की उपज होता है, ठीक जिस तरह प्रगतिशील साहित्य तत्कालीन परिस्थितियों की उपज था। वैसे ही दलित लेखन भी वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की देन है। शिक्षा से वंचित दलित समाज का व्यक्ति अपने मन की बात नहीं कह सकता था। गैर-दलित लेखक ही उसके प्रवक्ता बने हुए थे। लेकिन जैसे ही उन्हें शिक्षा का मौलिक अधिकार मिला तो वे अपनी और अपने समाज के लोगों की संवेदनाओं, आकांक्षाओं, आशाओं और अपेक्षाओं को अभिव्यक्ति देने लगे। यह उनकी पहली जरूरत थी कि वे दलित समाज के लोगों की चेतना के पिछड़ेपन, अज्ञानता और धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करके उनमें सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार करें। साहित्य इसका सबसे ज्यादा कारगर हथियार है। इसी से वे अपने समाज को हजारों साल के ब्राह्मणवादी मानसिक शोषण से मुक्ति का रास्ता दिखा सकते हैं।

किसी भी हालत में दलितों के जीवन पर गैर-दलित लेखकों के साहित्य को दलित साहित्य में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा ही करना था तो फिर दलित साहित्य की क्या जरूरत थी? आज जबकि यह बात बार-बार स्पष्ट कर दी गई है कि दलितों द्वारा लिखित दलित चेतना की अभिव्यक्ति करने वाला ही साहित्य दलित साहित्य है, फिर क्यों गैर-दलित लेखक दलित जीवन पर लिखित अपने साहित्य को दलित साहित्य में शामिल करने पर जोर दे रहे हैं लगता है, उनके इरादे नेक नहीं हैं। वे दलित साहित्य आंदोलन को खत्म करने के लिए ही ऐसी मुहिम चला रहे हैं। इनसे दलित लेखकों को अतिरिक्त रूप से सावधान रहने की जरूरत है।

हम दलित साहित्य आंदोलन को सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन के अभिन्न अंग के रूप में ही देखते और मानते हैं। क्योंकि दलित साहित्य सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय की अवधारणा पर विकसित हुआ है। महात्मा फुले और डा. अंबेडकर के सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन ने जो जमीन तैयार की थी, उसे आजादी के बाद के शिक्षित दलित समाज ने आगे बढ़ाया है। कोई भी साहित्यिक आंदोलन अपने सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की सफलता के बिना विकसित नहीं हो सका। आज का दलित साहित्य आंदोलन अपने सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन का संवाहक बनकर अपनी सार्थकता सिद्ध कर रहा है।

दलित साहित्य तथाकथित मुख्यधारा के साहित्य से मूलत: भिन्न है। यह अंतर उनकी समझ और संवेदना के धरातल का है। दलित साहित्यकार अपने समाज से प्राप्त अनुभव-सत्यों और यथार्थ को पूरी ईमानदारी से और प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त करते हैं, जबकि गैर-दलित लेखक दलित जीवन के अनुभव-सत्यों को सुनकर या अधिक से अधिक दूर से देखकर ग्रहण करते हैं, इसलिए उनका अनुभव प्रामाणिक नहीं होता है। हम उसे हद से हद सहानुभूति का साहित्य कह सकते हैं। दलित साहित्य स्वानुभूति का साहित्य है। दलित साहित्यकारों की प्रामाणिक अनुभूति या अनुभूत सत्य को अस्तित्ववादी चिंतन से जोड़कर देखना गलत है। कुछ आलोचक दलित साहित्य में 'प्रामाणिक अनुभूति' शब्द पढ़ते ही उन पर अस्तित्ववादी चिंतन का लेबल चिपका देते हैं। यह उनकी समझ का धुंधलापन ही है। दलित साहित्य अस्तित्ववादी चिंतन पर नहीं, डा. अंबेडकर के समाज दर्शन और चिंतन के आधार पर विकसित हुआ है।

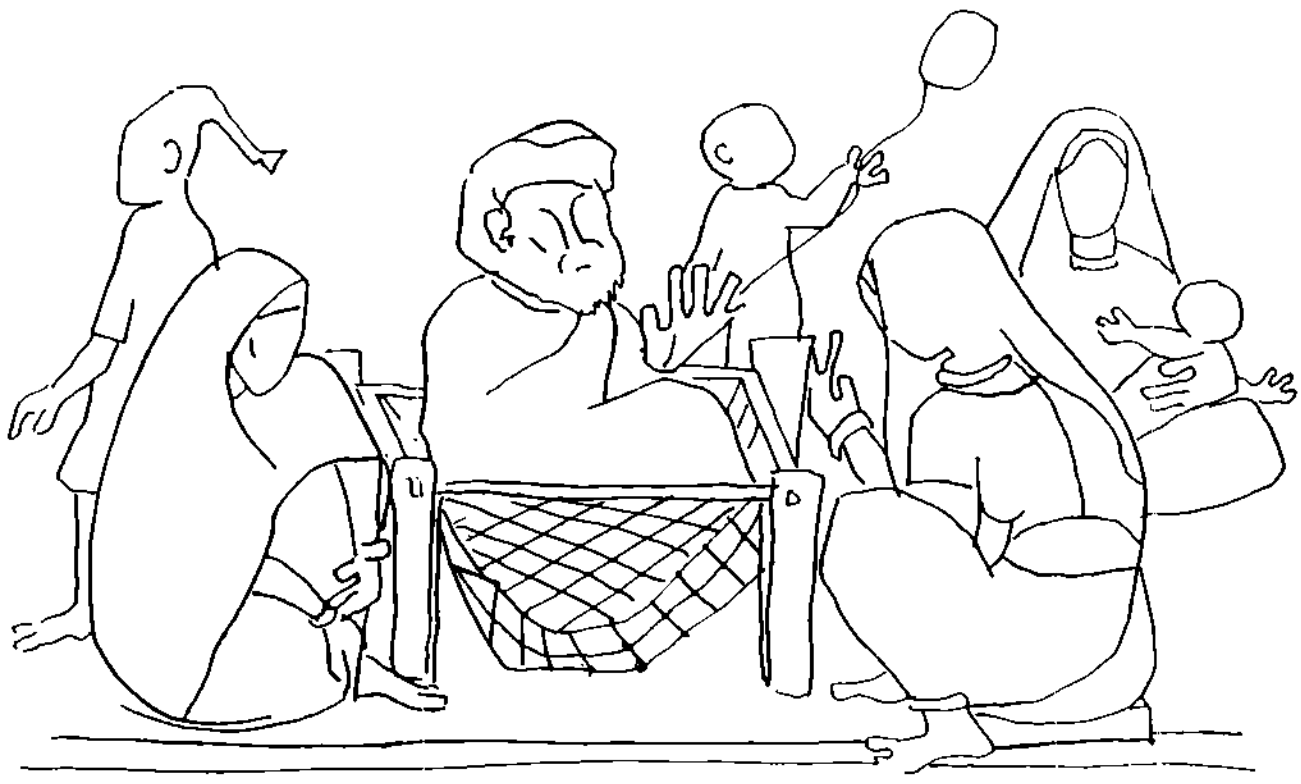
इधर दलित और गैर-दलित पत्र-पत्रिकाओं में जो दलित लेखन हो रहा है, उसे पढ़कर निस्संकोच कहा जा सकता है कि दलित साहित्य अपनी अलग पहचान बनाने में सफल रहा है। पिछले कई सालों से गैर-दलित पत्रिकाओं में दलित साहित्य विशेषांक निकालने की होड़ मची हुई है, उससे दलित साहित्य का महत्व और उसकी श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध हो जाती है। स्वयं दलितों ने भी अपनी पत्रिकाएं शुरू की हैं। प्रेम कपाड़िया के संपादन में *हम दलित* ने एक दशक पूरा किया है। जयप्रकाश कर्दम के संपादन में *दलित साहित्य 1999* तथा *दलित साहित्य 2000* नाम से वार्षिकी पत्रिकाएं प्रकाशित हुई हैं, जिनमें साहित्य की सभी विधाओं में लगभग सभी नए-पुराने दलित लेखकों की महत्वपूर्ण रचनाएं शामिल हैं। पिछले एक दशक में काफी संख्या में साहित्य की सभी विधाओं में दलित लेखको की महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की महत्वपूर्ण आत्मकथा *जूठन*, धर्मवीर की कबीर पर या आलोचनात्मक पुस्तकें, मोहनदास नैमिशराय का इसी वर्ष प्रकाशित उपन्यास *मुक्ति पर्व*, माता प्रसाद का नाटक *तड़प मुक्ति की* के साथ-साथ युवा नाटककार मनोज कुमार कैन का नाटक *संवादों के पीछे* तथा युवा कवयित्री रजनी तिलक का कविता संग्रह *पदचाप* आदि रचनाएं दलित साहित्य की समृद्धि और संभावनाओं की ओर संकेत करती हैं। इसी से उम्मीद बंधती है कि इक्कीसवीं सदी दलित साहित्य की सदी होगी। □

दलित साहित्य की वैचारिक संरचना

पृष्ठ ७ से आगे

का प्रभाव एक महत्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें पत्रकारिता के माध्यम से डा. अंबेडकर की विचारधारा के दलित और अन्य समाज पर पड़े प्रभाव को दिखलाया गया है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त कंवल भारती कृत *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती* (काव्य), कुसुम वियोगी कृत *टुकड़े टुकड़े दंश* (काव्य), प्रहलाद चंद्र दास कृत *पुइस के फूल* (कहानी संग्रह), सूरजपाल चौहान कृत *हैरी कब आएगा* (कहानी-संग्रह), प्रेम कपाड़िया कृत *हरिजन* (कहानी-संग्रह), *माटी की सौगंध* (उपन्यास), सुशीला टाकभौरे कृत *तुमने उसे कब पहचाना* (काल), पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी कृत *द्वार पर दस्तक* (काव्य), *दलित साहित्य और उसकी भाषा* (आलोचना), सत्यप्रकाश कृत *जस तस भई सबेर* (उपन्यास), दयानंद बटोही कृत *कफनखोर* (कहानी-संग्रह), रजनी तिलक कृत *करोड़ों पदचाप हूं* (काव्य) आदि दलित साहित्य की महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

वास्तव में दलित समाज ने भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर एक लंबी लड़ाई लड़ी है। वे बार-बार गिरे हैं, फिर उठे हैं। उन्होंने अपनी तथा अपने समाज की समस्याओं को लेकर संघर्ष किया है, तब जाकर उन्हें हाशिए से केंद्र में थोड़ी-सी जगह मिली है। पर यह जगह इतनी नहीं है कि वे पांव पसारकर बैठ सकें। हिंदी साहित्य में भी जिस ढंग से आलोचकों की एक लंबी कतार दलित साहित्य को हिंदी की एक नई मुख्यधारा न मान, केवल प्रवृत्ति के रूप में व्याख्यायित कर रही है, वह चिंतनीय है। परंतु इधर दलित साहित्य में नए लेखकों की जो कतार आई है तथा पुराने लेखकों ने जो नई पुस्तकें लिखी हैं, उन्हें देखकर साफ पता चलता है कि दलित साहित्य में सामाजिक संघर्ष और पहचान की प्रक्रिया तीव्र हुई है तथा इससे लेखकों की रचनात्मक ऊर्जा को बल मिला है। यह हिंदी साहित्य के लिए भी एक अच्छा संकेत है क्योंकि पारंपरिक पाठ से अब हिंदी पाठक समाज ऊब रहा है तथा दलित पाठ अपनी विषयवस्तु और नए स्वरूप के कारण पाठकों को आकर्षित कर रहा है। □



वापसी

देवदत्त कौशल

रेखांकन : श्रवण कुमार शर्मा

ट्रक गली के मुहाने पर आकर खड़ा हो गया। गली तंग है। आगे जा नहीं सकता। वह अभी मजदूरों का जुगाड़ करने की सोच ही रहा था कि गली-मुहल्ले वालों की भीड़ लग गई। जाने कैसे जंगल की आग की तरह गली-मुहल्ले में खबर फैल गई कि पारो का बेटा आ गया है।

देखते-ही-देखते सब कुछ हो गया और उसे पता ही नहीं चला। जाने किस-किसने सामान ढोकर घर तक पहुंचाया! जाने कहां से नाश्ता-पानी आ गया! उसका स्वागत इतनी गर्मजोशी के साथ होगा, इसकी उसे उम्मीद नहीं थी।

उसे अच्छा लग रहा था। यहां आकर उसे कुछ ऐसा मिल रहा था, पर कहीं अंदर-ही-अंदर एक हल्की-सी कचोट-सी कसमसा रही थी– क्यों वह अपने घर, अपनी मां और अपने शहर से दूर होता चला गया था?क्यों ? उसके पास इसका कोई जवाब नहीं था। वह मन-ही-मन शर्मिंदा था।

शर्मिंदगी की एक तत्काल वजह और भी थी। न सिर्फ यह कि गली-मुहल्ले वालों की गर्मजोशी को पत्नी ठंडेपन से ले रही थी, बल्कि उनकी सहज आत्मीयता के प्रति भी उसका रुख बेहद रूखा था। शायद सफर की थकावट की वजह से, शायद माइग्रेन-सिरदर्द की वजह से, शायद इस घर-शहर की नापसंदगी की वजह से वह जली-भुनी हुई थी। इंतहा यह कि औरतों के बीच से चुपचाप उठकर, 'कांपोज़' की गोली लेकर, अंदर की कोठरी में शाल में सिर-मुंह लपेटकर लेट गई।

सबके प्रति आभार व्यक्त करता हुआ वह अपनी झेंप और शर्मिंदगी छिपाने की कोशिश करता रहा।

पहला दिन ! तीस साल बाद अपने शहर, अपने पैतृक घर में पहला दिन।

बिखरा सामान। सिरदर्द को लिए बेसुध लेटी पत्नी। पुलक और शर्मिंदगी को एक साथ जीता

किंकर्तव्यविमूढ़ आंगन में खड़ा वह। और तीस साल बाद अपनी गृहस्थी को नए सिरे से टिकाने-जमाने का उसका इरादा।

तीस साल! कितना लंबा अरसा! जिंदगी का बेहतरीन हिस्सा, भले ही बेहतर तरीके से न जिया गया हो, वह अपने शहर और अपने घर से बाहर गुजार आया। तीस साल! पूरा एक युग।

पूरे एक युग के बाद वह अपने शहर, अपने घर लौट आया है। इस शहर और इस घर के साथ तब उसका लगाव बहुत गहरा था। जन्म से लेकर चढ़ती जवानी तक के दिन यहीं गुजारे। नौकरी लग जाने पर भी, वह हर शनिवार की शाम यहां आया करता था और सोमवार की सुबह चला जाया करता था। पांच दिन वह शनिवार के इंतजार में ही गुजारा करता था।

टेढ़ी-मेढ़ी तंग गलियों वाला ऊंघता-सा एक छोटा शहर। इसी शहर की एक बंद गली के अंतिम छोर पर अंधेरी कोठरियों वाला खस्ताहाल एक घर, जिसमें मां के साथ वह रहता था। उसी घर में आज वह पत्नी के साथ लौट आया है।

आज यह घर कितना सूना-सूना-सा लग रहा है! तब यही घर खस्ताहाली के बावजूद कितना गुलजार और बारौनक था!

इसी घर के दाईं ओर एक और घर, जिसमें शशि रहती थी, जो सदा उसके इर्द-गिर्द चहकती रहती थी। मां और शशि– यही उसकी कुल दुनिया थी। पिता की उसे कोई याद नहीं। वह बहुत छोटा था, तभी वे इस दुनिया से कूच कर गए थे। मां ने उसे पिता की कमी कभी महसूस नहीं होने दी। मां की छत्रछाया में कितना सुकून था और शशि का सान्निध्य इस सुकून को एक गहरी तृप्ति से भर देता था और शहर की बगल से गुजरती नहर के खामोश जल-प्रवाह के किनारे गुजारी शामें सुकून और तृप्ति को कितना सतरंगा बना जाती थीं!

तब उसे लगता था कि मां और शशि की तरह यह शहर भी उसके अस्तित्व का एक हिस्सा है। मां और शहर तो स्वत: ही उसमें रचे-बसे हुए थे। शशि अनायास ही उसकी जिंदगी में धंसती चली आई थी।

शशि– एक दुबली-पतली-सी लड़की– हमेशा ही उसके आस-पास मंडराती रहती थी। बचपन से ही वह उसे देखता-जानता आया था। फिर अचानक एक दिन जाने कैसे क्या हुआ कि उसे लगा कि वह शशि को पहली बार देख रहा है। सशरीर उसके होने को पहली बार जान रहा है। सिमटती, सकुचाती शशि ने अपना नया रूप उसके सामने परोस दिया था। ऐसे पहले को देखना और जानना एक नई पहचान में बदल गया। फिर यह नई पहचान 'दो जिस्म एक जान' में ढलती चली गई।

कुल मिलाकर दोनों खुश और आश्वस्त। उसकी मां और शशि की मां की ओर से तो कोई एतराज नजर नहीं आता था। थोड़ी-बहुत जो अड़चन थी, वह शशि के व्यापारी पिता की ओर से थी। दरअसल, उनके रुख में एक अनिश्चय था। वे शायद उसके भविष्य को तोल रहे थे। यहीं वह मार खा गया।

क्लर्की करता वह हर शनिवार की शाम अपने शहर आता रहा और शशि से मिलता रहा और सोमवार की सुबह जाता रहा और एक शनिवार की शाम पता चला कि शशि अपनी नहीं है। उन दोनों के दिलों पर क्या गुजरी, इसे सिर्फ वे दो ही जानते थे, जिसका कुछ-कुछ अंदाज दोनों की मांओं को भी था। पर अब कुछ नहीं हो सकता था और ऐसे एक दिन एक व्यापारी की बेटी किसी दूसरे व्यापारी के बेटे की पत्नी बनकर किसी दूसरे शहर चली गई।

अपने शहर के साथ बेगानेपन का रिश्ता यहीं से शुरू हो गया था। जाने कैसे क्या होता चला गया कि यह शहर, जो उसके अस्तित्व का एक हिस्सा था, धीरे-धीरे चुपके-चुपके टूटता और झरता रहा। यों हर शनिवार-सोमवार आने-जाने का सिलसिला जारी रहा। पर इस आने-जाने का अर्थ खो गया था। आना-जाना शायद आदत की मजबूरी थी या शायद एक मृगतृष्णा कि शायद शशि आई हुई हो, या शायद मां के सामने जवाबदेह बनने से बचने की कोशिश। जो भी हो, पर ये दो रातें और एक दिन उस पर बहुत भारी पड़ने लगे। शहर जैसे सूना हो गया– एकदम वीरान। यही उसका अपना शहर था, यही उसका अपना घर था, यही उसकी अपनी मां थी, पर उसका इंतजार करती हुई शशि वहां नहीं होती थी। उसे लगता कि वह एक अजनबी शहर, एक बेगाने घर और पराए लोगों के बीच आ गया है। उसे शहर उजाड़ और घर बियाबान नजर आता था। फिर भी उमंग-उत्साह से रहित एक यांत्रिक क्रिया की तरह हर शनिवार-सोमवार को आने-जाने का सिलसिला बरकरार रहा।

फिर उसकी शादी हो गई। पत्नी बनकर आई सरोज उसकी जिंदगी पर पूरी तरह से छा गई। लौटकर फिर उसे शहर गुलजार और घर भरा-भरा-सा नजर आने लगा। हर शनिवार को अब शशि के स्थान पर सरोज उसका इंतजार कर रही होती थी।

यकायक उसकी निगाह सामने चारपाई पर ढेर हुई सरोज के भारी-भरकम शरीर पर जा टिकी। यह थुलथुल मुटाया हुआ शरीर कितने अनुपातहीन फैलाव में है !

तब सरोज ऐसी नहीं थी। गदराए, गठे हुए शरीर में सुडौलपन था, ऊपर से हाव-भाव का सम्मोहन खींचता और जकड़ता था।

अपनी शादी उसे अपनी पहले की स्थिति के मुकाबले में ज्यादा संतोषप्रद और तुष्टिदायक नजर आने लगी। शशि के साथ मुलाकात कुछ ऐसी थी कि मिलते लिए, पर अभी मिलना बाकी है। सरोज से मुलाकात आत्मीय, घनिष्ठ और अंतरंग थी। शशि के साथ एकांत के क्षण चुराए हुए होते थे, सरोज के साथ एकांत साधिकार होता था।

अब हर शनिवार को अपने शहर जाने की ललक पहले से ज्यादा प्रबल थी।

यह शनिवार को आने और सोमवार को लौटने का सिलसिला चार हफ्ते तो बड़े आराम से चला। पांचवें हफ्ते सरोज की उसके साथ जाने की इच्छा, छठे हफ्ते अनुरोध, सातवें हफ्ते जिद, आठवें हफ्ते साथ चलने का अपना अंतिम निर्णय सुना दिया।

एक बेबसी में उसे सरोज को अपने साथ ले जाना पड़ा था। दरअसल, वह अपने शहर में ही अपना तबादला करवा लेने की जुगाड़ भिड़ा रहा था। सरोज को यह मंजूर नहीं था।

सरोज के मन की पर्तें कुछ-कुछ उघड़ने लगी थीं, जिससे आपसी संबंधों की मिठास में कुछ-कुछ कड़वाहट भी घुलती जा रही थी। सरोज इस शहर के इस घर में रहने के लिए कतई तैयार नहीं थी। वह बड़े शहर और उसके अपने घर के मुकाबले में बड़े घर से थी। उसकी निगाह में न केवल ससुराल-घर, बल्कि ससुराल-शहर भी बेहद बेहूदा, लीचड़ और फूहड़ था। इस शहर-घर से मुक्त होने के लिए वह जबर्दस्ती उसके साथ चली आई थी।

घर के साथ बेगानेपन का रिश्ता यहीं से शुरू हो गया था।

सरोज उसकी मां के साथ कुल दो महीने रही और इस बीच उनके आपसी संबंध बहुत मधुर नहीं रहे। यों मां के साथ उसका कोई झगड़ा नहीं था। मां उनके पास आकर रहे, इसमें उसे कोई एतराज नहीं था। मां जीते-जी उस शहर, उस गली और उस घर को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी।

सो वह फर्ज-अदायगी के तौर पर और सरोज औपचारिकता निभाने के लिए कभी-कभार दूसरे-तीसरे महीने मां के पास एकाध दिन के लिए हो आया करते थे। फिर उनकी पहली संतान मनोज के बाद उनके जाने का अंतराल बढ़ता गया। दूसरी संतान मनीषा के बाद यह अंतराल और अधिक बढ़ गया।

वे मां के पास कुछ इस तरह से जाते थे, जैसे मां पर एहसान कर रहे हों। मां ने भी एक बड़ा तटस्थ-सा रुख अपना लिया था। पर जब भी वे बच्चों के साथ जाते थे और बच्चे जब छोटे थे, तो मां तटस्थता के बावजूद उनके आगमन को एक उत्सव की तरह मनाती थी। बच्चों को भी दादी का लाड़-दुलार भाता था। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते गए, त्यों-त्यों उन्हें उस शहर-घर से अरुचि होती गई। बच्चे अपनी मां के प्रभाव में थे- उसी की सोच-समझ में ढले हुए।

आज तीस साल बाद वह उस घर में लौट आया है, जहां बीवी-बच्चों ने आना बंद कर दिया था, लेकिन वह अकेला ही छठे-छमाहे चला आया करता था- मां के साथ जुड़े रहने के एहसास को जगाए रखने के लिए।

आज वह सोचता है कि वह आना एहसास को जगाए रखने से अधिक औपचारिकता निभाना था। शुरू-शुरू में तो वह सिर्फ मां से मिलने के लिए ही आया करता था। बाद में सरकारी दौरों के बहाने मां से मिलने की रस्म पूरी कर आया करता था। यह मिलना भी क्या मिलना हुआ कि सरकारी काम जल्दी ही पूरा हो गया, तो दो-चार घंटों के लिए मां से मिल आए, नहीं तो अगली सुबह चल दिए। अपने घर की हैसियत एक सराय भर की रह गई थी।

इतना जरूर था कि जब-जब भी सरकारी दौरे पर वह इस शहर आया, तो शहर की सरहद में दाखिल होते ही मां के साथ शशि का ख्याल मन में एक शिद्दत के साथ उभर आया करता था। और अवचेतन में यह भी कि शायद शशि भी मायके आई हुई हो। पर ऐसा इत्तफाक कभी नहीं हुआ।

यह भी एक अजीब बिडंबना ही रही कि वह चाहे दो-चार घंटों के लिए रुका या एक रात ठहरा, इस दौरान न कभी मां ने खुलकर अपने मन की बात की, न उसने। दरअसल मां ने अपने चारों ओर खामोशी की ऐसी मोटी दीवार खड़ी कर ली थी कि उस तक पहुंचना मुश्किल हो गया था।

एक बार उसने उस दीवार को तोड़ने की कोशिश की थी। बड़े इसरार के साथ मां को अपने साथ रहने के लिए कहा था। मां अपनी खामोशी के खोल से कुछ पल के लिए बाहर आ गई थी- "मुन्ने, वहां अकेला तू ही मेरा होगा। यहां सारा गली-मुहल्ला अपना है। जवानी यहां गुजर गई। बुढ़ापा कहीं और जाकर क्यों ख्वार करूं? यह मिट्टी इसी मिट्टी में मिलेगी।...तुम लोग जहां हो, आबाद रहो... खुश रहो।"

तब कब सोचा था कि आबाद तो यहीं आकर होना है। खुश रहते हैं कि नहीं- यह अभी देखना है।

मां भले ही उनके पास आकर रहने के लिए तैयार नहीं थी, पर दो बार आई जरूर थी- दोनों बच्चों की शादी के शुभ-अवसर पर। मां चाहती तो यही थी कि इन शुभ-अवसरों का केंद्र अपने शहर का अपना घर ही हो। यह सरोज और स्वयं उसे भी मंजूर नहीं था, सो मन मारकर मां को उनके यहां आना पड़ा था, जहां उसकी उपस्थिति एक अनजाने और नुमाइशी मेहमान के रूप में थी।

इन दो मौकों के अलावा मां उनके पास नहीं आई। बस, वह ही सरकारी दौरों के बहाने मां से संक्षिप्त-सी मुलाकातें कर आया करता था। हां, एक बार उसे दस-बारह दिन के लिए रुकना पड़ गया था। इस घर में वे दस-बारह दिन बगैर मां के गुजारे थे उसने। मां थी ही नहीं इस संसार में। अंतिम दर्शन करते हुए उसे याद आया- 'यह मिट्टी इसी मिट्टी में मिलेगी।' तब एक अरसे बाद एक गहरी शिद्दत के साथ उसे इस बात का एहसास हुआ था कि वह क्या खो चुका है। पर अब क्या हो सकता था!

आज वह रिटायर होकर, अपना पूरा बोरिया-बिस्तर बांध-समेटकर यहां चला आया है- बाकी बची जिंदगी के लिए।

दोपहर का खाना शशि की मां ले आई थी। पत्नी तो कुछ खा नहीं सकी थी। उसने थोड़ा-बहुत ठूंस लिया था। तब से सामने के स्टूल पर पैर पसारे कुर्सी पर अधलेटा-सा उदासी में लिपटा वह अतीत की उधेड़-बुन में उलझता रहा है, जबकि वर्तमान सुलझाने को पड़ा है।

इतने फैले-बिखरे सामान के बीच दो व्यक्तियों की मौजूदगी के बावजूद घर कितना खाली-खाली, सूना-सूना नजर आ रहा है!

उसने चाहा कि वह उठे, बिखरे सामान को कुछ ठीक-ठिकाने लगाए, ताकि घर कुछ घर जैसा तो नजर आए। पर मन बुझा-बुझा, दिमाग धुआं-धुआं, शरीर गिरा-गिरा। कुछ करने का मन नहीं हुआ। बस, वह चारपाई पर अपने पूरे फैलाव में पसरी हुई पत्नी को, लावारिस-से बिखरे सामान को न-देखता हुआ-सा देखता रहा।

शाम का झुटपटा घिरने लगा। स्विच ऑन कर दिया। उसने सोचा था कि वह अपने शहर में पहली शाम नहर किनारे गुजारेगा। वह सोची और चाही शाम तो चौपट हो ही गई।

इस बदहाली और बदहवासी में लेटी हुई पत्नी को देखकर उसे कोफ्त होने लगी। जाने कब तक ऐसे ही लेटी रहेगी? घर में कहीं भी जिंदगी की हलचल के कोई आसार नजर नहीं आ रहे। सिर्फ स्मृतियों के प्रेत मंडरा रहे हैं। तभी उसे लगा कि पत्नी नींद के प्रभाव से निकलकर कुछ हिलने-डुलने लगी है। कमर के निचले हिस्से को कोशिश से उठाते हुए उसने करवट ली। उसने एक राहत की सांस ली। इसका मतलब- सिरदर्द से उसे आराम है। वह सिर्फ अपनी सुस्ती झाड़कर उठने की भूमिका बना रही है।

पत्नी के उठने की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए, उसने महसूस किया, उसकी अपनी भी कुछ भूमिका होनी चाहिए- "अब ठीक हो न?... कुछ चाहिए?...कुछ लोगी?" मतलब- उसका यह कि उठोगी भी या यों ही लेटी रहोगी?

जवाब में उसने बमुश्किल-बामशक्कत दूसरी करवट लेने की कोशिश की। मतलब- मुझे कहां लाकर पटक दिया! उसे यह शिकायत आज तक बराबर बनी हुई है कि अपने लिए कोई ठीक-ठिकाना भी न बना सके। एक अच्छे-से इलाके में एक छोटी-सी कोठी- यह हसरत उसके

मन में हमेशा रही और लौटकर आना पड़ गया उसे एक गंदे-से मुहल्ले की तंग गली के एक अंधेरी कोठरियों वाले घर में।

तीसरी करवट एक जोरदार झटके के साथ। यह उसके प्रति उपेक्षा और अवज्ञा की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति के प्रति एक कटु और क्रूर रुख अपनाने का उसका भी मन हुआ– 'बिना कुछ खाए-पीए यों ही लेटे रहना है, तो लेटी रहे। ... मैं चला घूमने।' पर उसने मन मार लिया। हमराही की हमदर्दी में नहीं, बल्कि इसलिए कि जब-जब भी पत्नी के प्रति उसने बेरुखी अपनाई, तब-तब पत्नी के आक्रामक रुख के सामने उसे भीगे मन पर सब कुछ रखकर स्मित-रेखा से संधि-पत्र लिखना पड़ा है।

आपसी संवाद तो तीन करवटों में ही पूरा हो चुका था।कसर थी संधि-पत्र लिखने की। सो एक आरोपित-से रोमांटिक मूड में वह अपनी कुर्सी से उठकर उसकी चारपाई पर जा बैठा। माथे को छुआ, सिर को हल्का-हल्का दबाया– "अच्छा, अब उठो। हाथ-मुंह धोओ। मैं बाजार से दूध-ब्रैड वगैरह ले आता हूं।" मतलब– इस नाटकबाजी को छोड़ो, यथार्थ पर उतरो।

वह उठ तो बैठी। पता नहीं यथार्थ को स्वीकारती हुई कि उसके दिखावटी रोमांटिक मूड के जवाब में। संभवत: दूसरी वजह ही रही होगी। पर आवाज में तुर्शी, हमेशा की तरह कायम थी– "मुझे कुछ नहीं लेना। अपने लिए जो लाना हो, ले आओ।" मतलब– मेरी असली जरूरत को कभी महसूस किया?

असली जरूरत! यही मुश्किल है। यही तो मुसीबत है। दरअसल, उसकी असली जरूरत किसी और किस्म के पति की थी, जो उसे नहीं मिला। उसकी खुद की जरूरत भी किसी और किस्म की पत्नी की थी, जो उसे नहीं मिली। नतीजा– रगड़ा-झगड़ा, तकरार-टकराहट।

किसी एक अच्छे दिन उसने कुल स्थिति का जायजा लिया था कि लड़ाई-झगड़े की शुरूआत तो पत्नी की ओर से होती थी, जिसमें कुछ देर तक तो उसकी भी बराबर की हिस्सेदारी होती थी, पर अंतत: हाथ उसे खड़े करने पड़ जाते थे। तो उसे सूझा, क्यों न वह सुलह-समझौते की नीति ही अपना ले? उसने अपना ली। झगड़ा शुरू होने से पहले ही सफेद झंडा झुला दो। अब एक लिहाज से वह सुखी है।

इस समय भी पत्नी की तुनुकमिजाजी को नजरअंदाज करते हुए उसने अपना आरोपित रोमांटिक मूड बरकरार रखा– "चियर अप बेबी। उठो। आज से एक नई जिंदगी शुरू करें।"

पत्नी चारपाई छोड़ उठ खड़ी हुई, कुछ ऐसे जैसे किसी ने उसके कटे पर नमक छिड़क दिया हो। तमतमाते हुए उसने घर की ओर इशारा किया– "इस मजार में नई जिंदगी शुरू करूंगी?"

हद हो गई। आखिर वह ही सफेद झंडा क्यों झुलाता रहे! यह नपुंसक आक्रोश शीघ्र ही शांत हो गया। वह अपनी स्वत:स्वीकृत नीति पर उतर आया– 'देखो सरू , इसका मुझे अफसोस है कि मैं तुम्हारी उम्मीदों पर पूरा नहीं उतर सका। ...तुम्हें कोई सुख-सुविधा नहीं दे सका।...अब इस शहर, इस घर के अलावा और कोई गति भी नहीं।...वक्त तो गुजारना है। जैसे-तैसे गुजर जाएगा...।"

इस क्षमायाचनापूर्ण वक्तव्य पर वह कुछ ढीली पड़ी। थकी-थकी-सी भुनभुनाती हुई उस कुर्सी पर जा बैठी, जिस पर वह पहले बैठा हुआ था। कुर्सी पर अधलेटी निढाल-सी भावशून्य निगाहों से पति को देखती रही, फिर एक सर्द आह के साथ कुछ शब्द मुंह से फिसल आए– "वे दोनों तो पूरे तोताचश्म निकले...।"

उसका इशारा अपनी दोनों संतानों की ओर था। उसने शुक्र मनाया कि उसका ध्यान अपनी संतान की ओर चला गया है। अब इसे संभालना मुश्किल नहीं।

वह उसकी कुर्सी के सामने वाले स्टूल पर जा बैठा। उसके अफसोस में डूबे चेहरे को बड़े प्यार से ऊपर उठाया– "नाहक परेशान हो रही हो। बच्चों से क्या शिकायत?...उनके प्रति हमारा जो कर्तव्य था, वह हमने निभाया। बदले में उनसे कोई उम्मीद रखना गलत है।...वे अपनी जिंदगी जी रहे हैं और हमें अपनी जिंदगी जीनी है।...चिंता किस बात की है? तुम्हारा मैं हूं और मेरी तुम हो...।"

लुटे अतीत और पिटे भविष्य के ख्याल ने पत्नी को इस कदर मथ डाला कि वह बेकाबू होकर उससे लिपट गई और बेतहाशा रोती रही। बमुश्किल उसने पत्नी को शांत किया।

एक कसक उसके मन में भी है कि वाकई दोनों बच्चों को मां-बाप से कोई विशेष लगाव नहीं है। बेटा उनके गले में अंगूठा देकर विदेश चला गया। शुरू-शुरू में उसके खत, बाद में यदा-कदा फोन आता रहा। दो-एक बार उसने कुछ पैसे भी भेजे। दो साल बाद वह आया और कोई जुगाड़ भिड़ाकर पत्नी को भी अपने साथ ले गया। अब दो साल से उसके साथ कोई संवाद-संपर्क नहीं है।...बेटी से तो क्या शिकायत हो सकती है! वह तो पराए घर चली गई। खुशी की बात है कि वह खुश है। लेकिन ख्याल आता है कि उसने कभी यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि उसके मां-बाप किस हाल में हैं।

बहरहाल, दोनों बच्चों की अपनी-अपनी मौज-मस्ती की जिंदगी है। सरोज और वह बच्चों से भी, आपस में भी एक-दूसरे से, अपने आप से भी कटे-टूटे जैसे-तैसे वक्त को धक्का दे रहे हैं। कटे-टूटे होने के बावजूद, एक लाचारी में, फिर एक-दूसरे से आ जुड़ते हैं। उसने तो खैर लड़ना-झगड़ना ही छोड़ दिया है। सरोज भी कुछ जली-कटी, कड़ी-कड़वी बातें कहकर अंतत: गले लिपटकर आंसू बहाती हुई सुलह कर लेती है। यह सरोज की ओर से मन के भीगे आंचल पर सब कुछ रखकर संधि-पत्र लिखना है।

मन के भीगे आंचल पर सब कुछ रख लेने के बाद घर-गृहस्थी के बिखरे सामान को यथास्थान रखने की बारी आई। वे दोनों मिलकर सबसे पहले रसोई का सामान टिकाने लगे। जब आधे से ज्यादा सामान टिक गया, तो उसने इरादा बनाया कि वह बाजार जाकर दूध-ब्रैड वगैरह ले आए और सरोज धीरे-धीरे बाकी के सामान को टिकाती रहेगी। तभी बाहर के दरवाजे पर थपथपाहट शुरू हुई।

उसने दरवाजा खोला। ड्योढ़ी में बल्ब नहीं था। बाहर की स्ट्रीट लाइट बहुत धुंधली थी। दरवाजे के बाहर जो नारी-मूर्ति नजर आई, वह उसकी पहचान से बाहर थी।

हैरत में कुछ पल दोनों आमने-सामने खड़े रहे– इस उम्मीद में कि दूसरा कुछ कहेगा, कुछ पूछेगा। ऐसा कुछ नहीं हुआ, तो दरवाजे के बाहर एक खिलखिलाहट बिखर गई– "क्यों दरवाजा घेरे खड़े हो?...अंदर नहीं आने दोगे?"

यह खिलखिलाहट कुछ - कुछ जानी-पहचानी-सी लगती है, आवाज भी।...कब सुनी थी? कहां सुनी थी?

अभी वह इसके बारे में अंदाज ही लगा रहा था कि खिलखिलाहट का दूसरा रेला आया– "आप भी कमाल हैं! ...आने वाले का कोई स्वागत-सत्कार नहीं...।" और लगभग उसे ढकेलती हुई-सी अंदर दाखिल हो गई।

इतनी बेतकल्लुफी ! इतनी बेबाकी! इतनी सीनाजोरी! ...कौन हो सकती है यह?

यह खिलखिलाहट और यह आवाज– उसके मन के तहखाने का ढक्कन कुछ खुलने-सा लगा। पलटकर उसने धकेलकर अंदर जाती नारी के पृष्ठभाग पर निगाह डाली। उसके मन में यकायक एक बिजली-सी कौंध गई। भले ही यह पृष्ठभाग पहले से ज्यादा– बहुत ज्यादा– नहीं, भरा और भारी है, पर है शशि का ही। यह शशि ही है। पहले से कुछ ज्यादा वाचाल हो गई है। पर...वह...और यहां और इस वक्त?...नहीं, यह सपना नहीं है।

शशि सीधी वहीं पहुंची जहां सरोज रसोई का सामान संभाल रही थी। उसकी बगल में बैठ, बड़ी आत्मीयता से सरोज के कंधे पर हाथ धर, तनिक अपनी ओर खींचा– "छोड़ो दीदी, किस झमेले में पड़ी हो। यह सब मैं सुबह करा दूंगी। अब चलो, चलकर खाना खा लो।"

शुक्र है उसने अपने अतीत को नकारा नहीं– सरोज उसके लिए दीदी है, भाभी नहीं।

सरोज की जिज्ञासु निगाहें उसकी ओर! उसकी आश्चर्यचकित निगाहें शशि की ओर! शशि की अनुनय भरी निगाहें सरोज की ओर। तीनों निगाहों में एक सवाल था, जिसका सीधा-साफ जवाब किसी के पास नहीं था। एक बड़ी बेढंगी-सी स्थिति थी।

शशि ने ही स्थिति को कुछ संभाला– "मां से पता चला, आप लोग अपने शहर लौट रहे हैं। घर के बुद्धू घर लौटे।...मैंने कहा, चलकर स्वागत करना चाहिए।"

उसने बेबाक निगाहें शशि पर गड़ा दीं। कितनी, कितनी मुद्दत बाद वह शशि को देख रहा है। शरीर पहले से ज्यादा भरा-भारी, पर मुटाया हुआ नहीं। उम्र का जितना असर पर बालों पर, उतना शरीर पर नहीं। लगता नहीं कि वह चार बच्चों की मां है, जिनकी वह शादी भी कर चुकी है। कुल मिलाकर कीमती पोशाक से लैस व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक और प्रभावशाली।

शशि को इस रूप में देखकर उसके मन में एक साथ कई ख्याल आए। अतीत-स्मृति, वर्तमान-स्थिति और भविष्य-कल्पना की रेलपेल। ख्याल आया कि शशि कीमती पोशाक में न भी होती, अत्यंत साधारण पोशाक में ही होती, तो क्या वह साधारण पोशाक उसके शरीर के गठन, चेहरे पर बरसते नूर और रौनक, उसके तौर-तरीके में बसे आत्मविश्वास को ढांप लेती? फिर मन के आइने में अपना ही अक्स उभर आया। शशि के सामने खुद वह और सरोज कितने बौने हैं– निढाल शरीर पर बुझे-मुरझाए चेहरे लिए वे अपने आप से भी और एक-दूसरे से भी थके-हारे...। फिर शशि की दुबली-पतली काया, बोलती-सी आंखें और उसके साथ गुजारे अंतरंग क्षणों की कौंध, जिस पर तत्काल ही शादी के शुरू-दिनों की सरोज की मांसलता और हाव-भावों का सम्मोहन छा गया। आज उसे खोजने पर भी सरोज में उस पहले की सरोज के अवशेष भी नजर नहीं आ रहे, जबकि शशि की देह और तौर-तरीकों में एक नई गरिमा आ गई है।...फिर एक सुखद संभावना उसे सहलाती रही कि इस ढलती उम्र में भी एक त्रिकोण बनने वाला है।

बहरहाल, शशि सरोज पर पूरी तरह से हावी हो रही थी। सरोज के सामान रखते हाथ को उसने थाम लिया– "कमाल कर रही हो, दीदी! सामान कहीं भागा जा रहा है? कहा न, सुबह करा दूंगी मैं। ... अब उठो भी, चलकर खाना खा लो पहले।'

सरोज की एक बेबसी में बुझी-सी निगाहें उसकी ओर– सुझाव मांगती हुई-सी। शशि की शरारत में चमकती हुई-सी निगाहें भी उसकी ओर– आदेश देती हुई-सी। दोनों की निगाहों की मार को सहता हुआ वह बीच का रास्ता अपनाता है– "देखो शशि, ऐसा करो, आध-एक घंटे तक खाना यहीं ले आओ। इस बीच मैं थोड़ा-सा अपना शहर देख आऊं।"

शशि उस पर एक सहलाती-सी निगाह फेंककर चली गई।

गुदगुदाए-से मन को लिए उसने लस्त-पस्त सरोज पर एक निगाह डाली और सरोज के चढ़ते तेवर देखकर उसके मन की गुदगुदाहट गायब हो गई। खतरे की घंटी। रात की नींद हराम हो जाएगी। इसके चढ़ते पारे को उतारना जरूरी है। उसने आवाज को भरसक मीठा बनाते हुए कहा– "चलो उठो। आराम करो।...फिलहाल, मैं सुबह के लिए दूध-ब्रैड वगैरह ले आऊं।"

उसका पारा उतरने की बजाय और चढ़ गया। हाथ के सामान को लगभग पटकती हुई वह उठ खड़ी हुई– "यह निगोड़ी है कौन?...हुक्म चलाती है!" और निढाल-सी होकर चारपाई पर लुढ़क गई।

कौन है? क्या बताए वह? जो बताया जा सकता था, वह उसने बता दिया– "शशि की मां को तुम जानती हो न। यह वही शशि है, जिसकी वह मां है।"

"उंह, बड़ी आई हाथ बंटाने।...रौब-अकड़ तो देखो। ...मैं तो आपकी वजह से चुप रही...!"

वह समझ गया कि इसका अहं आहत हुआ है और शशि के प्रति इसका आक्रोश उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाएगा। समय पाकर ठंडा हो तो हो। इस समय इसे समझाया-संभाला नहीं जा सकता।

वह चुपचाप बाहर निकल गया।

बाजार की ओर जाते हुए उसकी निगाह कहीं भी इधर-उधर नहीं उठी, जबकि अपने पुराने संदर्भों में अपने शहर को देखने और महसूस करने की उसकी इच्छा कितने अरसे से चली आ रही थी। इस वक्त तो शशि का मनोहारी व्यक्तित्व अपने तमाम पुराने संदर्भों सहित उस पर छाया रहा और सरोज के प्रति वितृष्णा गहराती रही।

शशि को वह कभी भुला नहीं सका। कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में, वायवी रूप में ही सही, उसके और सरोज के बीच शशि उपस्थित रही है। सरोज के साथ तो वह सिर्फ एक संबंध निभाता रहा। सरोज और उसके आपसी संबंधों में, शुरू के दिनों में भले ही एक मादकता रही हो, महक और मधुरता कभी नहीं आई।

आज अचानक शशि को देखकर, उसे लगा कि उसका अतीत लौट आया है। वह जैसे लौटकर बीस-बाईस का बन गया और इसे नशे में वह बाजार में घूम रहा है, साथ ही कहीं यह एहसास भी कि वह अट्ठावन को पार करता हुआ ढलती उम्र का व्यक्ति है, जिसे सुबह के लिए दूध-ब्रैड वगैरह ले जानी है। अतीत और वर्तमान। शशि और सरोज। दो पाटों के बीच पिसता वह। शशि अपनी बन नहीं सकी। सरोज को अपनी बना नहीं सका। धोबी का कुत्ता...!

पृष्ठ 43 पर जारी

रूसी-हिंदी मैत्री का साहित्यिक दूत

आचार्य बारान्निकोव ने अपनी लेखनी के माध्यम से भारत की देदीप्यमान साहित्यिक संपदा का मूल्यांकन कर रूस एवं यूरोप में ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व में भारत को सम्मानप्रद स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वह खोजी प्रकृति के एक विद्वान रचनाकार थे। रामविलास शर्मा के अनुसार वह वैज्ञानिक थे जिन्होंने कविहृदय पाया था।' भारतप्रेमी भाषाविद अलेक्सेई पेत्रोविच बारान्निकोव के व्यक्तित्व और कृतित्व पर **जगदीश प्रसाद बरनवाल 'कुंद'**

अनेक भारतीय साहित्यिक कृतियों के अनुवाद विदेशों में और विदेशी भाषाओं में किए गए हैं और समादृत भी हुए हैं किंतु जो लोकप्रियता गोस्वामी तुलसीदास कृत *रामचरितमानस* के रूसी भाषा में किए गए अनुवाद ने प्राप्त की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह कठिन कार्य सोवियत संघ (अब विघटित) के प्रमुख भाषाविद एवं विद्वान अलेक्सेई पेत्रोविच बारान्निकोव द्वारा किया गया है। उन्होंने अपने जीवन के एक दशक वर्ष से भी अधिक का समय, केवल *रामचरितमानस* के आद्योपांत अध्ययन और उसके हृदयग्राही अनुवाद के प्रति समर्पित कर दिया था। रूसी भाषा में छंदबद्ध अनुवाद करते समय उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के नियमों का यथासंभव पालन किया है और यह ध्यान रखा है कि उसकी मौलिकता पर कहीं से कोई आंच न आने पाए। जहां कहीं भावों या शब्दों की दुरूहता समझ में आई है वहां इसे दूर करने की दृष्टि से यथास्थान टिप्पणियां भी दे दी गई हैं ताकि पाठक को उन्हें हृदयंगम करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। भारी दायित्वों से भरे हुए इस कार्य की महत्ता को तत्कालीन सरकार ने भी स्वीकार करते हुए उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण अनुवाद कार्य बाधित न होने देने की भावना से युद्ध की विभीषिका से दूर कजाकिस्तान के बोरोवोए में एक शांत स्थान पर भेज दिया, जहां रहकर उन्होंने अत्यंत रुग्णावस्था के बावजूद अपनी योजना को अंतिम रूप दिया।

रामचरितमानस का यह अनुवाद 1943 ई. में ही पूरा हो गया था किंतु प्रकाशित हुआ 1948 ई. में। इस ग्रंथ की भूमिका 106 पृष्ठों में दी गई है जिसमें भारतीय काव्यशास्त्र एवं तुलसीदास के जीवन दर्शन आदि से संबंधित विवरण है। इसके अंतर्गत ही उन्होंने *रामचरितमानस* की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है- 'तुलसीदास की रामायण भक्तिकालीन भारतीय साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना है। उसमें भारतीय काव्यकला के सभी उपकरणों का चरम विकास ही नहीं मिलता, वरन, विदेशी विजेताओं द्वारा दलित जनता के हृदय में उत्साह भरने और उसकी एकता स्थापित करने के महान उद्देश्य के कारण उसमें दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचारों की वह समृद्धि है जिसमें पहले के भारतीय दर्शन, धर्म व्यवस्था और नैतिकता का सारतत्व मिलता है। इस कारण सोलहवीं सदी में इस ग्रंथ की रचना के बाद ही उसे उत्तर भारत की कोटि-कोटि जनता का स्नेह और व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई। सुंदर, कलात्मक रूप में व्यंजित उसकी नैतिकता भारत के अशिक्षित और निरक्षर जनों के भी कंठों में गूंज रही है।'



अलेक्सेई पेत्रोविच बारान्निकोव रेखांकन : शेष

इस श्लाघनीय अनुवाद के माध्यम से उन्होंने *रामचरितमानस* की कथावस्तु एवं उसमें समाई हुई चारित्रिक आदर्श की संपन्नता को रूसी जनता के समक्ष प्रस्तुत करके एक नए अध्याय का सूत्रपात किया। यह अनुवादित ग्रंथ इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रकाशन के तत्काल बाद ही इसकी हजारों प्रतियां रूसी पाठकों द्वारा हाथों-हाथ खरीद ली गईं। इसकी प्रसिद्धि से प्रभावित होकर हिंदी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान एवं समालोचक रामविलास शर्मा ने इसे फासिस्टवाद के विरुद्ध संघर्ष का एक अंग बताते हुए लिखा- 'मानवता के प्रति तथा विज्ञान और संस्कृति के प्रति यह कितना अगाध विश्वास कहा जाएगा कि इसके अनुवाद पर सोवियत संघ में उस घड़ी में इतना समय और साधन व्यय किया गया जबकि वह अत्यधिक खतरे का सामना कर रहा था और सोवियत नागरिकों द्वारा बनाए गए प्रति रुबल और श्रम को फासिस्टवाद के विरुद्ध युद्ध में व्यय किया जा रहा था लेकिन क्या तुलसीदास की कृति का

यह अनुवाद फासिस्टवाद के विरुद्ध संघर्ष का एक अंग नहीं था। इस तरह बारान्निकोव के कठिन प्रयत्नों से भारतीय काव्य का एक अमूल्य ग्रंथ सोवियत जनता के समक्ष आ सका।'

रामचरितमानस का यह ऐतिहासिक अनुवाद करने के पूर्व उन्होंने पं. लल्लूलाल कृत *प्रेमसागर* का रूसी भाषा में अनुवाद 1937 ई. में ही कर दिया था। इसकी 91 पृष्ठों की लंबी भूमिका में उन्होंने समूचे हिंदी साहित्य के विकास का एक खाका भी खींचा है। इसमें सूरदास की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'कलात्मक रूप, सुंदर भाषा और काव्य की दृष्टि से भारतीय परंपरा के अनुसार वह भारत के सर्वश्रेष्ठ गायक हैं।' इसके अंतर्गत उन्होंने हिंदी को काफी सम्मान देते हुए यह भी कहा है कि 'हिंदी भारत की सबसे महत्वपूर्ण नव भारतीय भाषा है जो पिछली शताब्दी से ऐतिहासक विकास क्रम में उस देश की पैंतीस करोड़ से अधिक जनता की राष्ट्रभाषा (लिंगुआ फ्रांका) बन गई है।'

सोवियत जनता को भारतीय जीवन शैली, भाषाओं एवं साहित्य से परिचित कराने तथा दोनों देशों के मध्य मैत्री संबंध प्रगाढ़ कराने के ध्येय से उन्होंने आधुनिक भारतीय साहित्य की कई और उत्कृष्ट कृतियों के हिंदी से रूसी भाषा में अनुवाद करने की परंपरा प्रारंभ की। मुंशी प्रेमचंद के लेखन से वह काफी प्रभावित थे। दिसंबर 1915 के *सरस्वती* में प्रकाशित मुंशी प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' का उन्होंने यूक्रेनी भाषा में अनुवाद किया। यही नहीं, जून, 1917 ई. में प्रकाशित उनके पहले कहानी संग्रह *सप्तसरोज* की कहानियों को भी उन्होंने रूसी भाषा में अनूदित किया और इसकी भूमिका में लिखा कि 'प्रेमचंद की रचनाओं में वास्तविक भारत के दर्शन होते हैं।' वह पहले सोवियत विद्वान थे जिन्होंने प्रेमचंद की रचनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाई। इस संबंध में *गोर्की और प्रेमचंद : दो अमर प्रतिभाएं* पुस्तक के लेखक मदनलाल 'मधु' का यह कथन ध्यातव्य है- '1927 में ही प्रसिद्ध रूसी भारतविज्ञ *रामचरितमानस* के रूसी रूपांतरकार अकादमीशियन अ. बारान्निकोव ने प्रेमचंद की 'सौत' तथा अन्य कई कहानियों का विश्लेषण करके प्रेमचंद की यथार्थ जीवन की पकड़, सामयिक और सामाजिक समस्याओं की गहरी समझ और उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण की विशेष चर्चा की। उनके बाद अनेक सोवियत विद्वानों ने, जिनमें व. वालिन, ये. चेलिशेव, इ. कोम्पास्सेव व वेस्क्रोब्नी आदि उल्लेखनीय हैं, प्रेमचंद के विभिन्न उपन्यासों, कहानियों और साहित्यिक विचारों का सविस्तार विवेचन किया है।'

इसके अतिरिक्त उनके द्वारा समसामयिक विषयों एवं भारत-सोवियत सांस्कृतिक संबंधों पर आधारित, 'तुलसीदास के दार्शनिक विचार', 'रामायण के रचयिता का जीवन दर्शन', 'भारतीय कविता की अभिव्यक्ति के माध्यम', 'गोर्की और भारतीय साहित्य', 'रूसी साहित्य पर भारतीयों का काम', 'पुश्किन पर भारतीय साहित्यालोचन', 'हिंदी गद्य की समस्या', 'भारतीय दर्शन की भूमिका', 'भारतीय काव्यशास्त्र', 'भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक ऐतिहासक व्याकरण', 'प्राचीन भारतीय साहित्य' आदि लगभग ढाई सौ से अधिक निबंध एवं शोध प्रबंध लिखे गए हैं जो भिन्न-भिन्न सोवियत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने हिंदी, उर्दू भाषाओं के व्याकरण और कोश के अतिरिक्त एक वृहत हिंदी रूसी कोश की भी रचना की है।

विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें सिगानों की भाषा सीखने का बड़ा शौक था। भाषा तत्वज्ञों के अनुसार मूल रूप से भारतीय पर समूचे विश्व में भ्रमणशील जाति जिप्सी या रोमनी रूस में सिगानो नाम से जाने जाते हैं। उल्लेखनीय है कि भाषा सिगान को हिंदी से काफी मिलती-जुलती होने के कारण कुछ भाषाशास्त्रियों ने हिंदी की सगी बहन कहा है। उनकी भाषा में हिंदी की बोलियों- अवधी एवं भोजपुरी के अंश बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। घुमंतू या बंजारा किस्म का होने के कारण वे जहां गए, उनकी बोलियों में स्थानीय भाषा का सम्मिश्रण होता गया। उन सिगानों की भाषा, उनके रीति-रिवाज एवं जीवन स्तर का गहराई से अध्ययन करने के निमित्त उन्हें उनके बीच रहना पड़ा था। वे उनके साथ नाचते, गाते, खाना खाते और उनके दुख-सुख में भागीदार बनकर उनके आत्मीय भी बन गए। इस प्रकार उनके हृदय में प्रवेश कर उन्होंने उनके संबंध में पहला ग्रंथ *बेलग्रोरद (यूक्रेन) की सिगान बोली* लिखा जो 1926 ई. में छपा। इसके अतिरिक्त सिगानों पर उनके द्वारा प्रस्तुत कई शोधपरक निबंध एवं गीतिसंग्रह भी काफी माने रखते हैं। उन्होंने *सिगास्की रूस्की स्लोबार* के नाम से एक रोमनी-रूसी कोश भी तैयार किया था जो 1938 ई. में छपा। उस कोश के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि रोमनी शब्द हिंदी के बहुत निकट हैं जैसे हिंदी के हमरो (भोजपुरी), आनेस (अवधी), ऊंचे, काकी, कुछ, काला, चोर , थान, दुई (अंक), पानी, बकरा, वर्ष, मानुस, मारैला (भोजपुरी), मैं, आग, रात्रि, रीछ, साग आदि शब्दों के लिए रोमनी में अमरो, अनेस, उचेस, काकी, कुच, काला,च्योर, थान, दुइ, पानी, बकरी, बेरस, मनुस, मारेला, मैं याग, रातिरी, रीच, सागा शब्द हैं।

बारान्निकोव का जन्म एक सौ दस वर्ष पूर्व सोवियत यूक्रेन स्थित पोल्ताब जिला के जोलोतोनोस्त स्थान में 21 मार्च, 1890 ई. को एक गरीब बढ़ई परिवार में हुआ था। वह नौ भाई थे। उनके पिता का नाम प्योत्र इवानोविच बारान्निकोव था। मां हमेशा बीमार रहा करती थीं, जिनका निधन 1914 ई. में ही हो गया। निर्धन पिता की संतान होने के कारण उन्हें जीवन संग्राम में कड़े संघर्ष करने पड़े थे किंतु अपने धैर्य, परिश्रम और आत्मविश्वास की शक्ति से वह सदैव इन पर विजय प्राप्त करते रहे। शिक्षा एवं पुस्तकों के प्रति बचपन से ही उनके मन में काफी अभिरुचि थी। एक बार वह अपने बहनोई के गांव गए। वहां उन्होंने अपने बहनोई से कहा कि मैं छुट्टियों में सारे दिन आपके यहां काम करूंगा लेकिन मेरे लिए एक पुस्तक अवश्य मंगा दीजिए। इस प्रकार प्रारंभ से ही मेधावी रहे बारान्निकोव ने कठिनाइयों और अर्थाभाव की परिस्थिति में 1910 ई. में जेम्नासियम (मैट्रिक) परीक्षा उत्तीर्ण की और 1914 ई. में किव विश्वविद्यालय से मगिस्तर (स्नातक) की उपाधि ग्रहण करके अपने तीन सौ पृष्ठों के निबंध 'स्लाव, लिथुव और जर्मन भाषाओं में धातु रूप' पर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें छात्रवृत्ति भी प्रदान की जाने लगी थी। 1917 ई. में उनके द्वारा संस्कृत, ग्रीक, लातिन और तुलनात्मक भाषाविज्ञान विषयों की शिक्षा सेंटपीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद) विश्वविद्यालय से ग्रहण कर अस्पेरांत (एम.ए.) की उपाधि प्राप्त की गई। इसके पश्चात चार वर्ष तक तुलनात्मक भाषातत्व के प्रोफेसर के रूप में समारा (कुबिशेएफ) विश्वविद्यायल में कार्यरत रहकर पुन: 1921 में पीटर्सबर्ग (लेनिनग्राद) में आ गए, जहां उन्होंने अपनी कोशिशों से विश्वविद्यालय में हिंदी को सम्मानप्रद स्थान दिलाया। संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन उन्होंने

पृष्ठ 38 पर जारी

दो कविताएं : विद्या गुप्ता

देहरी की आवाज

जब तुम पैदा हुए थे
रख दी थी उसने
श्रवण-परंपरा की कांवर
अपने कांधे से
तुम्हारे कांधे पर

पृथ्वी की परिक्रमा करते
भूल गए तुम कि
तुम्हारी अंतरिक्ष-यात्रा
पूरी होगी
उसी गोबर लिपे आंगन में
जहां से 'टेक आफ' किया था तुमने

विदा से पहले
दिया था सबने तुम्हें
अपने-अपने हिस्से का भाग्यदान
मां ने तो उम्र तक दे डाली थी
बहन ने ले ली थीं सारी बलाएं अपने सिर
दादी ने भगीरथ कहा था
और, गांव ने लगा दी थी तुम्हारी पीठ पर
गोबर की हाथ की थाप

कब लौटाओगे
इतना उधार
मां रुकी नहीं, तुम्हें उम्र देने के बाद
बहन लौटी नहीं फिर सशरीर
दादी तर गई, पीढ़ियां तरने के प्रमाण-सी
भोला गांव अब भी खोजता
देखता है आकाश में हवाई जहाज
फैला देता है बांहें
जैसे हर हवाई जहाज तुम्हारा पर्याय है

आओ, लौट आओ
मुखाग्नि और पिंडदान का
हकदार स्वप्न थामे
तुलसी-गंगाजल की प्रतीक्षा में
खड़ी है,
बगैर पांव की उम्र
परंपरा की कांवर में आस्था जोड़े!

गुलकंद बनाती लड़की

लड़की और गुलाब
गुलाब और लड़की

गुलाब की इच्छा है
लड़की-देह पाना
लड़की की इच्छा है
जिंदगी का गुलाब हो जाना

गुलकंद बनाती लड़की
हो रही है धीरे-धीरे
टहनी की तरह गंधहीन

बगैर छुअन के
नोंचती है पंखुरियां
कांटों पर चलने के लिए
पार करती है
फूलों भरा रास्ता
उन्हें कुचलते हुए

चिंताओं के साथ
असुंदर लगती है
गुलाबों में बैठी लड़की
पैने हो रहे हैं
लड़की में छुपे कांटे

बालों में गुलाब टांकती इच्छा को
जकड़ लेती है
पंखुरियां नोंचने की विवशता
फिर नहीं थी
उम्र और देह के बावजूद
लड़की में लड़की
नहीं था
गुलाब में गुलाब
खुशबू के बावजूद !

चांद आज भी उजला है

रति सक्सेना

नारियल के पत्तों के पीछे
दराजों से झांकता चांद
न तो बुझा-बुझा लगा
और न ही करियाया
चमक भी हमेशा की तरह उजली
सड़ी लाशों की गंध से भी महक नहीं बदली
जलती सामूहिक चिताओं ने
कोई धब्बा डाला नहीं
हरा बांस चाहे शादी के मंडप में हो
या मृत देह की टिकटी में
उसके लिए दोनों स्थितियां समान हैं
कुछ लोगों के सागर में बह जाने से
ज्वार-भाटा रुक नहीं जाता
हवा भाले-सी तीखी होकर
गर्दनों के पार उतर जाए
तो भी चलन नहीं रुकता
उत्कल हो या बंग
गांव गरीबों का ही उजड़ता है
कटोरे अल्यूमिनम के ही खनकते हैं
भूख भूखों को ही सताती है
लहरें सागर पुत्रों को ही निगलती हैं
सूरज के रथ का पहिया
कीचड़ में फंस गया
पूरब की लाली करिया-सी गई है
सागर कुछ उथला-सा गया है
समाचार चित्र
लाशों की वीभत्सता से अलंकृत हो गए
दर्शकों के हाथ के प्याले से
चाय जरा छलक पड़ी
फिर सब कुछ सामान्य हो गया
कैमरे खुश हैं अभूतपूर्व दृश्य बांध पाने से
दर्शक खुश हैं रोमांचहीन रोमांच पाने को
कौन सोचता क्षणभंगुरता के बारे में
फिर क्यों शर्मसार हो चांद?
चांद आज भी उजला है हमेशा की तरह!

तीन ग़ज़लें : अमरनाथ श्रीवास्तव

एक

पहाड़ का जो सफर है तो इंतजार करो
खराब दिन की खबर है तो इंतजार करो

हवा चलेगी तो आएंगे मेघ सावन के
अभी उमस का पहर है तो इंतजार करो

हरा दरख्त है, लग जाएंगी दुआएं भी
लगी किसी की नजर है तो इंतजार करो

पहन रही है एक मूर्ति ख्वाब शिल्पी के
जहां कहीं भी कसर है तो इंतजार करो

मिलेगा हमसे इकाई को दहाई का मिजाज
हमारे हक में सिफर है तो इंतजार करो

खुलूस और मुहब्बत जो तुमने छोड़ी है
हमारे पास अगर है तो इंतजार करो!

दो

आज न देखा कल का सोचा
फूल से पहले फल का सोचा

जिन आंखों में प्यास न ममता
उन आंखों में जल का सोचा

मुझसे हल्फ नहीं उठ पाई
मैंने गंगाजल का सोचा

दिन ऐसे थे,आड़े आए
जब भी पल दो पल का सोचा

सारा पानी कुछ लोगों का
जब जी आया, थल का सोचा

उसकी बातें मन मोहे हैं
जिसने मुझसे छल का सोचा

तिनके तो लहरों पर बैठे
मोती ने जब तल का सोचा

है सवाल अपने पैरों पर
जिस सवाल के हल का सोचा !

तीन

है इंद्रधनुष ऐसा, हम घन के लिए तरसे
सावन के महीने में, सावन के लिए तरसे

कमरे से लगे कमरे, सीढ़ी से लगी सीढ़ी
जो धूप के पौधे थे, आंगन के लिए तरसे

यह गर्भ से ही शिक्षा, यह अपना-पराया भी
बच्चों के खिलौने तो बचपन के लिए तरसे

हम बाद में चेते जब, रिश्तों की महक खोई
त्यौहार तो आए, हम 'ठनगन' के लिए तरसे

गुस्से की रिवायत थी, बातों से नहीं निभती
हम शिष्ट हुए इतने, अनबन के लिए तरसे!

दाग धोती औरतें

ओ. पी. श्रीवास्तव

औरतें धोती हैं
कपड़ों के दाग
बच्चों के, पति के, बुजुर्गों के
सहज क्रिया की तरह!

औरतें धोती हैं
मन के दाग
कहीं एकांत में आंसुओं से
प्रायश्चित की तरह!

औरतें धोती हैं
तन के दाग
कठिन परीक्षा देकर
सीता की तरह, द्रोपदी की तरह!

पांच गीत : शिवाकांत मिश्र 'विदोही'

एक

गलत आंकड़ों से
कंप्यूटर के
निकल रहे ऐसे परिणाम,
चूते ज्यों
इमली की डालों से
बेमौसम गदराए आम!

भैंस उसी की
जिसकी लाठी है,
घोड़े से भी
महंगी काठी है,
झोंपड़ी
कमाल बचा पाएं क्या,
हाथ हर कबीर के
लुकाठी है,

हाटों में
ऊंची दुकानों के
आज सभी फीके पकवान,
बोतल पर
लेबुल गंगाजल का
किंतु हमें मिलता है जाम!

मिथ्या ने
सत्य को लताड़ा है,
जलकुंभी से
दबा सिंघाड़ा है,
युग के परिवर्तन में
पोता ही,
दादा को
पढ़ाता पहाड़ा है,

गाय को
कसाई के खूंटे पर
मिलता है छलिया सुख-चैन,
अंधियारों की
बस्ती में सूरज
मारा फिरता है बदनाम!

दो

शुद्ध डालडे तक का
आज अभाव झेलते
पात्र पुराने देशी घी के,
बेबस होकर
चुभन झेलते नाशफनी की
गमले हैं जो मौलश्री के!

नित्य आजकल परिवर्तन के
नाम अमृत घट पर
गरलों के हमले होते,
और यहां पर
चित्रकला के क्रांति क्षेत्र में
बीज नग्नता के हम बोते,
आज सभी के चित्रों में
मुद्रा विचित्र है
सीता हो या सरस्वती के!

सुनता नहीं किसी की कोई
सबकी अपनी ढपली
अपने राग अलग हैं,
भोर कुहासा-सांझ तिमिर वह
जहां सौर ऊर्जा लंगड़ी है
घायल पग हैं,
कुंठित कलम और तलवारें
दिशाहीन युग की पतवारें
व्यर्थ तरीके !

मची हुई है अफरा-तफरी
सौ-सौ बीमारों में
एक अनार के लिए,
कृत्रिम मुस्कानों के भाटे
हैं अधरों पर
पीर सिंधु के ज्वार के लिए,
अखबारों की
प्रगति भाषिणी लहरों में हैं
चर्चे इक्कीसवीं सदी के!

तीन

दिखते केवल
पत्थर के
मनचले आइने ,
उगते
शीशे की आंखों में
दूर-दूर तक !

जितने मुंह
उतनी बातों के
छेड़ तराने,
हर कोई
दहशत का फुटकर
जुटा भुनाने,

दरकिनार कर
शाश्वत परंपरा के
मानक,
भ्रमवश लोग
आज छितराने
लगे घूर तक !

मन लगता
कुरुक्षेत्र आज
अंतर्द्वंद्वों का,
रोना लेकर
भीष्म-पार्थ के
संबंधों का,

और अंधड़ों के
हाथों की
कठपुतली बन,
जला रहे
बस्तियां
आरती के कपूर तक !

चार

अंतर का मुंह
चिढ़ा रहे
स्याही के दर्पण,
देख कांच को
पत्थर जैसा
कुछ प्रत्यर्पण !

अनजानी
मंजिल की ओर
भागती राहें,
दाएं-बाएं हाथों
बस ढो रहीं
कराहें,

कदम-कदम पर
धुंधलाए
उधेड़बुन में है,
उलझे धागों जैसा
अघटित का
आकर्षण

उलटबांसियों के
दांतों में
बेबस रसना,
असुरक्षित पाती है
खुलकर
ताने कसना,

मृगजल की
तृष्णा में
भटके रहे अतीत के,
मुर्दे ही
करते हैं अब
जीवन का तर्पण!

पांच

टूटा मन का दर्पण
किर्च -किर्च हो
बिखरे सारे सपने !

सुधियों की
खूंटी पर
टंगी निरीह उदासी,
उगीं आंख में
धारदार
छवियां संत्रासी,

शूल सरीखे
चुभन दे रहे
कल के अपने!

भूतीले प्रतिबिंब
कर रहे
पैदा सिहरन,
हृदय क्षितिज पर
मार रही पर
थम-थम उलझन,

हंसी अधर की
झुलसाई
वियोग-आतप ने !

दो कविताएं : राधेश्याम तिवारी

मेरे शहर का बच्चा डाक्टर

सत्तर की चौहद्दी लांघकर भी
बूढ़ा नहीं हुआ था
मेरे शहर का बच्चा डाक्टर
उसके भीतर बच्चों की आत्मा थी
निश्छल-निर्विकार

नन्हे-मुन्ने
उसकी भाषा समझते थे
असंख्य गरीब मांओं की
दुआएं उसके साथ थीं
तभी तो तीस पैसे की
होम्योपैथ की पुड़िया
बीमार बच्चों की खुशी
वापस ला देती!

कटिहार का
वह बंगाली बच्चा डाक्टर
बच्चों के बीच रहते-रहते
खुद भी बच्चा हो गया था
लोग उसका
असली नाम नहीं जानते थे
वह फकत बच्चों का बच्चा डाक्टर था

बड़ों के लिए उसकी बात का
कोई मतलब नहीं होता
पर बच्चे
उसकी भाषा समझते थे
नकली दांतों के भीतर से
खिलखिलाती उसकी असली हंसी
बच्चों में मिठास
बांटती रहती

उसकी दवा में
दुआ का असर था
गरीब बच्चों के लिए
वह मां था
पिता था
मित्र था

दुबला पतला
पर स्वस्थ आत्मा वाला
वह बच्चा डाक्टर
कभी उदास नहीं रहता था

क्या हुआ
अगर अपना कोई बच्चा नहीं था
उसके पास आने वाले
अनगिनत बच्चे तो हैं

वह बीमार बच्चों की आंखों में
झांकता रहता
और हंसी की खुशबू
बिखेर देता था
फिर नन्हीं कलाइयों को
प्यार से पकड़ता
और आंखें बंद कर
ध्यान की मुद्रा में
कहीं लीन हो जाता था
गोया वह ईश्वर से सीधा
संवाद कर रहा हो
और फिर चश्मे के भीतर से
अपनी छोटी-छोटी
आंखें चमकाकर
मुस्कराते हुए कहता था-
'ऐ सैतान
हिलडोल मत करो।'

यह उसका
तकिया कलाम था
संदर्भ के साथ
उसके अर्थ बदलते रहते थे

अचानक एक दिन
जब शहर के तमाम
बीमार बच्चे
उसकी दवा के सहारे
गहरी नींद में थे

वह बच्चा डाक्टर
सदा के लिए सो गया
इस खबर से
पूरे शहर में
मुर्दनी छा गई
बीमार बच्चों को लिए
गरीब मांएं
अब कहां जाएं

मेरे शहर में आज भी
जब रोते हैं बीमार बच्चे
तो गरीब मांएं
उन्हें अब भी भरोसा दिलाती हैं
एक दिन जरूर आएगा उसके घर
बच्चों का दादा
बच्चा डाक्टर!

दूरी

नदी को बचाना है तो
बहुत है जरूरी
सागर और नदी की दूरी

पुल को बचाना है तो
बहुत है जरूरी
पुल और नदी की दूरी

रेल से यात्रा करनी है तो
बहुत है जरूरी
दो लाइनों के बीच की निश्चित दूरी

यह जानते हुए भी
जो लोग छाया से जुड़ते हैं
वे अंदर से शीशे की तरह टूटकर
ऊपर से बेंत की तरह मुड़ते हैं!

साहित्यिक कृतियों पर फिल्में क्यों नहीं बनतीं?

हमारे देश में न साहित्यकारों की कमी है और न ऐसी साहित्यिक कृतियों की ही, जिन पर फिल्में बन सकती हैं। इसके अलावा साहित्यकार विशेष रूप से फिल्मों के लिए, आज भी घिसी-पिटी फार्मूलाबद्ध कहानियों की तुलना में, बेहतर कहानियां लिख सकते हैं। तो फिर सवाल उठता है कि क्यों नहीं साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनतीं? क्यों नहीं आगे आते हमारे साहित्यकार दर्शकों को बेहतर फिल्में देने की दिशा में अपना योगदान करने के लिए? साहित्य की सिनेमा से यह दूरी क्यों बनी हुई है? साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों पर **विश्वनाथ गुप्त**

कुछ समय पहले प्रसिद्ध फिल्म निर्माता और निर्देशक सुभाष घई ने यह घोषणा की थी कि वह किसी अच्छी कहानी पर एक करोड़ रुपये तक पारिश्रमिक दे सकते हैं। सुभाष घई ने यह बात प्रतिभा डाबर के उपन्यास *वह मेरा चांद* के लोकार्पण समारोह में कही थी। हालांकि उन्होंने स्पष्टतया तो यह नहीं कहा, फिर भी इशारा अवश्य किया कि कथाकार आगे आएं और फिल्में बनाने के लिए अच्छी कहानियां उन्हें दें।

सुभाष घई एक माने हुए फिल्मकार हैं और उन्होंने कुछ अच्छी फिल्में हिंदी फिल्मों के दर्शकों को दी हैं। उन फिल्मों की सराहना देश-विदेश में बड़े पैमाने पर हुई है। सुभाष घई के अलावा और भी कई निर्माता-निर्देशक हैं जो अच्छी कहानियों पर उद्देश्यपूर्ण और मनोरंजक फिल्में बना सकते हैं। हमारे साहित्यकार इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।



फिल्म 'देवदास' में दिलीप कुमार और सुचित्रा सेन

पिछले कई दशकों में हमारे यहां जो फिल्में बनी हैं, उनकी सबसे बड़ी कमी उनकी कमजोर कथावस्तु रही है। करीब-करीब हर फिल्म में एक घिसी-पिटी कहानी होती है, जिसमें नाच-गाने, हिंसा, बलात्कार, मारधाड़ आदि के दृश्य जबर्दस्ती ठूंस दिए जाते हैं। दर्शक ऐसी फिल्में देख-देखकर ऊब चुके हैं। बीच-बीच में जब उन्हें कोई अच्छी फिल्म देखने को मिलती है तो वह उन्हें राहत प्रदान करती है। लेकिन प्रतिवर्ष बनने वाली करीब 125 हिंदी फिल्मों में गिनती की ही फिल्में होती हैं जो वास्तव में देखने लायक होती हैं।

हमारे देश में न साहित्यकारों की कमी है और न ऐसी साहित्यिक कृतियों की ही, जिन पर फिल्में बन सकती हैं। इसके अलावा साहित्यकार विशेष रूप से फिल्मों के लिए, आज भी घिसी-पिटी फार्मूलाबद्ध कहानियों की तुलना में, बेहतर कहानियां लिख सकते हैं। तो फिर सवाल उठता है कि क्यों नहीं साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनतीं? क्यों नहीं आगे आते हमारे साहित्यकार दर्शकों को बेहतर फिल्में देने की दिशा में अपना योगदान करने के लिए? साहित्य की सिनेमा से यह दूरी क्यों बनी हुई है?

आज के संदर्भ में ये प्रश्न इसलिए अधिक प्रासंगिक हैं, क्योंकि आजकल अधिकांशत: या तो ऐसी फिल्में बनती हैं जिनमें बड़े-बड़े सितारे काम करते हैं। स्टार सिस्टम पर आधारित होकर बनी ये फिल्में बड़े बजट की होती हैं, जिन पर दस करोड़ से लेकर पंद्रह करोड़ रुपये प्रति फिल्म व्यय होते हैं अथवा फिर ऐसी घटिया किस्म की फिल्में बनती हैं जो दर्शकों को अंधविश्वासी, व्यभिचारी, बलात्कारी और कुपथगामी ही बना सकती हैं।

जहां तक बड़े बजट की फिल्मों का संबंध है, निर्माताओं में इस बात की होड़ लगी हुई है कि वे बड़े-बड़े सितारों को लेकर फिल्में बनाएं जो बिकाऊ हों। फिल्मों के वितरक भी बड़े-बड़े सितारों के नाम देखकर ही मुख्यत: फिल्में खरीदते

हैं। बड़े-बड़े सितारे करोड़ों रुपये पारिश्रमिक लेते हैं। इसके अलावा आजकल इन बड़े बजट की फिल्मों की काफी शूटिंग विदेशों की महंगी लोकेशनों पर करने का रिवाज चल पड़ा है। इसलिए ये फिल्में दस-बारह करोड़ रुपये से कम में नहीं बनतीं। इतनी महंगी फिल्म बनने के बावजूद इस बात की गारंटी कोई नहीं ले सकता कि वे फिल्में दर्शकों को पसंद आएंगी ही और टिकट खिड़की पर सफल हो जाएंगी। पिछले वर्ष की ऐसी फिल्मों की वास्तविक स्थिति को देखकर ही इस बात का प्रमाण मिल जाता है। पिछले वर्ष यानी 1999 में बड़े बजट की पैंतीस फिल्में बनीं जिन पर साढ़े तीन अरब रुपए की लागत आई। इनमें से केवल पंद्रह फिल्में सफल रहीं, जिनमें से पांच को तो औसत सफलता ही मिली।

पिछले वर्ष की सफल फिल्मों- *हम दिल दे चुके सनम, ताल, बीवी नं. वन, सरफरोश, वास्तव, दाग-द फायर, हम आपके दिल में रहते हैं, हम साथ-साथ हैं* आदि। की सूची देखने से पता चलता है कि वे ही फिल्में दर्शकों को पसंद आईं जिनकी कहानियों में कुछ नवीनता थी और जो भारत के पारंपरिक जीवन-मूल्यों को साथ लेकर चलीं। बाकी फिल्मों को, बड़े-बड़े सितारे और बड़े-बड़े बैनर होने के बावजूद, दर्शकों ने नकार दिया। बड़े बजट की ऊलजलूल कहानियों पर बनने वाली फिल्मों में दर्शकों की घटती रुचि को देखकर ही आजकल कई निर्माता इस तरह का जोखिम उठाने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि उनकी फिल्मों को कोई खरीदने वाला ही नहीं मिलता।

बड़े बजट की फिल्मों के बड़े पैमाने पर असफल होने का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि इधर ऊलजलूल विषयों पर घटिया फिल्में बहुत बनने लगी हैं, जो एक सुखद स्थिति नहीं है।

वर्ष 1999 में ही तीस प्रतिशत फिल्में ऐसी बनी हैं जो दर्शकों को अंधविश्वासी, बलात्कारी, हिंसक और व्यभिचारी बनने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। इस तरह की कुछ फिल्मों के नाम देखकर ही इस बात का सहज ही अनुमान हो जाएगा। ये फिल्में हैं- *आतंकराज, आया यौवन झूम के, भूत का डर, चुड़ैल नं. 1, दुल्हन बनी डायन, इंतकाम औरत का, काम वासना, कामतंत्र, खूंखार दरिंदे, खूनी इलाका, मुर्दाघर, प्रेम शास्त्र, कातिल चांडालिनी, कातिल निगाहें, सरकती लाश, शैतान तांत्रिक, तन अगन* आदि।

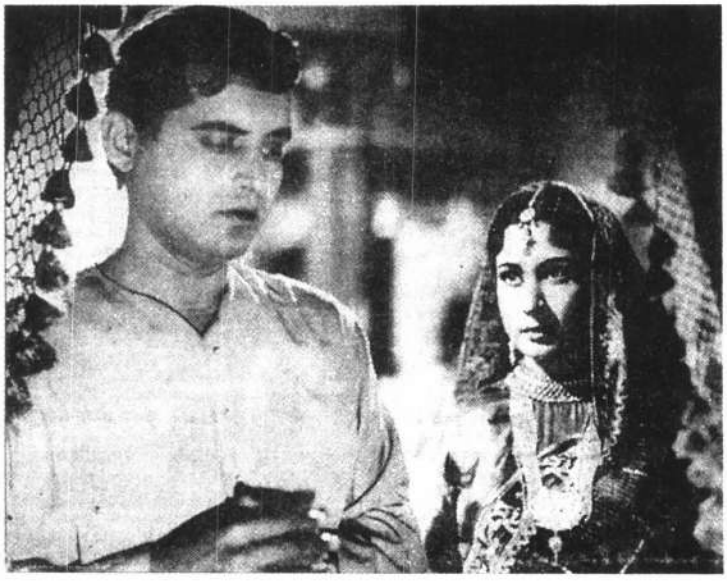
इस तरह की फिल्में निर्माता घाटे से बचने के लिए बनाते हैं। इन फिल्मों में छोटे-छोटे अप्रसिद्ध कलाकार कम पैसे लेकर ही काम करने को तैयार हो जाते हैं। बड़े कलाकारों की तरह इनकी तारीखों की कोई समस्या नहीं होती। इसलिए ये फिल्में कम व्यय पर जल्दी तैयार हो जाती हैं और छोटे-छोटे कस्बों और छोटे शहरों व दर्शकों को जल्दी देखने को मिल जाती हैं। मजे की बात यह है कि कुछ फिल्म पर नारी-शोषण के नाम पर मनोरंजन कर माफ हो जाता है। इस बात का अनुमा आसानी से लगाया जा सकता है कि ये फिल्में दर्शकों को किस दिशा में ल जाएंगी। पिछले वर्ष बनी हिंदी फिल्मों में करीब तीस प्रतिशत फिल्में ऐसी बनी लेकिन धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती जाएगी।

एक तरफ तो बड़े बजट की फिल्में हैं जिनमें से ज्यादातर अच्छी और दमदा कथावस्तु के अभाव में टिकट-खिड़की पर असफल हो जाती हैं और दूसरी तरफ दर्शकों को गुमराह करने वाली घटिया किस्म की फिल्में हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का दायित्व और भी बढ़ जाता है कि वे आगे आएं और फिल्म निर्माताओं को अच्छी-सुरुचिपूर्ण और सोद्देश्य फिल्में बनाने के लिए या तो अपनी साहित्यिक कृतियां दें अथवा विशेष रूप से लिखी ऐसी कहानियां दें जो व्यावसायिक सिनेमा के ढांचे में फिट हो सकें। ऐसी फिल्मों से दर्शक न केवल स्वस्थ मनोरंजन प्राप्त कर सकते हैं, बल्कि कुछ अच्छे संदेश भी ग्रहण कर सकते हैं। बीते दशक में बनी कई फिल्में इस विषय में मार्गदर्शक बन सकती हैं।

कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। इसका अर्थ यही है कि समाज में जो कुछ घटित होता है, उसका प्रतिबिंब साहित्य में दिखाई पड़ता है। हमारे फिल्मकार सिनेमा को भी समाज का दर्पण मानते हैं। उनका कहना है कि अपनी फिल्मों में वे वही कुछ दिखाते हैं जो समाज में घटित होता है। यही कारण है कि फिल्मों के दर्शक फिल्मों में प्रस्तुत किए गए चरित्रों को अपने जीवन से जोड़कर रखते हैं और वैसा ही करने की कोशिश अपने वास्तविक जीवन में करते हैं जैसा कि फिल्में के पात्र करते हैं। यह उसी तरह होता है जिस तरह कोई उपन्यास या कहानी पढ़ते हुए पाठक करते हैं।



फिल्म 'चित्रलेखा' के सैट पर मीनाकुमारी को समझाते हुए निर्देशक केदार शर्मा



फिल्म साहब, बीबी और गुलाम में गुरुदत्त और मीनाकुमारी

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि फिल्मों का समाज पर गहरा असर पड़ता है। कभी-कभी यह असर बड़ा दूरगामी और खतरनाक भी हो जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण अक्सर देखने-पढ़ने और सुनने में आते हैं कि फिल्मों में हिंसा, बलात्कार या लूटपाट के दृश्य देखकर बहुत-से दर्शक अपने वास्तविक जीवन में वैसा ही करते हैं। टेलीविजन और वीडियो के आगमन के बाद तो फिल्मों का और भी अधिक विस्तार हो गया है। वे और भी ज्यादा दर्शकों तक पहुंचने लगी हैं इसलिए उनका प्रभाव और भी ज्यादा व्यापक हो गया है।

हमारे साहित्यकार संभवत: फिल्मों से इसलिए दूर रहते हैं, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि फिल्मों में उनकी साहित्यिक कृतियों के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाएगा और अभी कहानियों को इस तरह से तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया जाएगा कि उनकी मूल आत्मा ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। साहित्यकारों की यह धारणा निर्मूल नहीं है, क्योंकि विगत में ऐसा कई बार हुआ है। फिर भी बिमल राय, गुरुदत्त और गुलजार जैसे फिल्मकारों ने साहित्यकारों का सम्मान किया है और साहित्यिक कृतियों के प्रति न्याय किया है।

साहित्यकारों को यह पता होगा कि भारतीय फिल्में मूलत: मनोरंजन के लिए बनाई जाती हैं। इसलिए उनमें वे सारे तत्व होने चाहिए जो दर्शकों को अपनी ओर खींचें। इन तत्वों में नाच-गाने भी शामिल हैं। फिल्म-संगीत के सबसे बड़े टिप्पणीकार बी.ए.के. रंगाराव के अनुसार बिना नाच-गानों से किसी भारतीय फिल्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह बात भी माननी होगी कि *देवदास, साहिब, बीवी और गुलाम* और *गाइड* जैसी साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्में नाच-गानों से मुक्त थीं। फिर भी वे न सिर्फ व्यावसायिक दृष्टि से सफल रहीं, बल्कि प्रबुद्ध वर्ग द्वारा भी सराही गईं।

ऐसी बात नहीं हैं कि हमारे साहित्यकार फिल्मों से शुरू से ही दूर रहे हैं। वे फिल्मों से जुड़े हैं। कहना चाहिए, शुरू से ही। यों शुरू-शुरू में ज्यादातर फिल्मकारों ने धार्मिक, ऐतिहासिक और प्रेम कथाओं (जैसे लैला-मजनूं, शीरी फरहाद, हीर-रांझा, आदि)। पर आधारित विषयों पर ही फिल्में बनाईं। व्ही. शांताराम और हिमांशु राय जैसे फिल्मकारों ने सामाजिक सरोकारों से जुड़ी उद्देश्यपूर्ण और संदेशपरक फिल्में बनाईं जैसे *अमृतमंथन, पड़ोसी, दहेज, डा. कोटनीस की अमर कहानी* तथा *अछूत कन्या*। लेकिन संभवत: इनमें से कोई भी साहित्यिक कृति पर आधारित नहीं थी।

साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बनाने की शुरूआत करने का श्रेय वस्तुत: कलकत्ता की फिल्म-निर्माण कंपनी 'न्यू थिएटर्स' को जाता है, जिसकी स्थापना बी.एन. सरकार ने 1931 में ही कर दी थी। इस कंपनी की पहली फिल्म *देना-पावना* ही साहित्यिक कृति पर आधारित थी। इस कंपनी के प्रमथेश बरुआ ने 1935 में शरत् चंद्र चटर्जी के उपन्यास *देवदास* पर पहले बंगला और फिर हिंदी में फिल्म बनाई। फिल्म को आशातीत सफलता मिली तो वह बाद में तमिल में भी बनी। बहुत साल बाद न्यू थिएटर्स से ही प्रशिक्षित बिमल राय ने 1956 में अपनी फिल्म कंपनी से बंबई में *देवदास* फिल्म बनाई जिसके नायक-नायिका दिलीपकुमार और सुचित्रा सेन थे। यह फिल्म पिछली फिल्मों से कई मायनों में बेहतर रही। इस फिल्म के गीत भी प्रसिद्ध शायर साहिर लुधियानवी ने लिखे, जो फिल्मों से शुरू से ही जुड़े हुए थे। उनकी कलम से निकले गीतों ने फिल्म में चार चांद लगा दिए। अब *देवदास* पर एक और फिल्म *हम दिल दे चुके सनम* फिल्म बनाने वाले संजय लीला भंसाली बना रहे हैं। यहां *देवदास* के बारे में विस्तार से लिखने का प्रयोजन यही है कि एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति पर केवल एक बार नहीं, बल्कि कई बार फिल्में बनाई जा सकती हैं और इन फिल्मों को दर्शक भी मिलेंगे, क्योंकि दर्शक भी तो नित नए-नए पैदा होते हैं।

कलकत्ता के न्यू थिएटर्स से जुड़े प्राय: सभी व्यक्ति जैसे बिमल राय, हृषीकेश मुखर्जी, देबकी बोस, प्रमथेश बरुआ आदि साहित्य-प्रेमी थे, इसलिए उन्होंने साहित्यकारों तथा साहित्यिक कृतियों का पूरा सम्मान किया। बोलती फिल्मों के शुरूआती दौर में बंगला के दो साहित्यकार प्रेमांकुर आतर्थी और शरदिंदु वंद्योपाध्याय फिल्मों से जुड़े। बाद में प्रेमेंद्र मित्र और शैलजानंद मुखोपाध्याय भी जुड़े। न्यू थिएटर्स की पहली फिल्म *देना-पावना* का निर्देशन भी प्रेमांकुर आतर्थी ने ही किया था।

न्यू थिएटर्स की एक फिल्म *मुक्ति* में पहली बार गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा रचित एक गीत 'दिनेर शेषे, घूमेर देशे' को शामिल किया गया जिसके गायक पंकज मल्लिक की प्रशंसा स्वयं गुरुदेव ने की। प्रमथेश बरुआ ने शरत्चंद्र के एक और उपन्यास *गृहदाह* पर भी फिल्म बनाई। बंगला के और भी साहित्यकारों की रचनाओं पर फिल्में न्यू थिएटर्स ने बनाईं, लेकिन मुख्यत: बंगला भाषा में।

जहां तक हिंदी फिल्मों का संबंध है, वे ज्यादातर बंबई में ही बनीं। कथा साहित्य में मुंशी प्रेमचंद का बड़ा नाम सुनकर बंबई के एक फिल्म-निर्माता ने उनकी एक कहानी पर फिल्म बनाने की योजना बनाई। प्रेमचंद बंबई गए लेकिन जब उन्होंने देखा कि उनकी कहानी में बहुत फेर-बदल करके उसका सत्यानाश कर दिया गया तो वह दुखी होकर वापस आ गए। फिर भी कुछ साहित्यकार फिल्मों से जुड़े जिनमें पं. सुदर्शन, अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। कवियों में पं. नरेंद्र शर्मा, सरस्वती कुमार दीपक, गोपाल सिंह नेपाली और नीरज के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर कमलेश्वर और मनोहर

श्याम जोशी जैसे साहित्यकार भी फिल्मों से जुड़े।

साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों में प्रेमचंद के *गोदान* और *गबन* उपन्यासों पर फिल्में बनीं। शरत्चंद्र के उपन्यासों पर *परिणीता, विराज बहू, सौतेला भाई* और *मंझली दीदी* फिल्में बनीं। रवींद्रनाथ टैगोर के एक उपन्यास *चार अध्याय* पर हिंदी में फिल्म *जलजला* बनी। बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास *आनंदमठ* पर एक फिल्म बनी जिसमें उनका प्रसिद्ध गीत 'वंदेमातरम्' भी शामिल किया गया था। बंगला के प्रसिद्ध कथाकार विमल मित्र के उपन्यास पर गुरुदत्त ने *साहिब, बीबी और गुलाम* बनाई। आशापूर्णा देवी की कहानी पर *तपस्या* तथा बनफूल की कहानी पर *अर्जुन पंडित* जैसी श्रेष्ठ फिल्में बनीं। इन सब मिसालों को देने का उद्देश्य यही है कि बंगला के साहित्यकारों ने बंगला के अलावा हिंदी के फिल्मकारों को भी फिल्में बनाने की प्रेरणा दी।



'शतरंज के खिलाड़ी' फिल्म का एक दृश्य

साहित्यिक कृतियों पर बनी कुछ अन्य हिंदी फिल्में हैं- *तीसरी कसम* (फणीश्वरनाथ रेणु), *एक चादर मैली-सी* (राजेंद्र सिंह बेदी), *गाइड* (आर. के. नारायण), *चित्रलेखा* (भगवतीचरण वर्मा), *आंधी* (कमलेश्वर), *पवित्र पापी* (नानक सिंह), *शतरंज के खिलाड़ी* (प्रेमचंद)।

इस तरह फिल्मों के शुरूआती दौर से लेकर सातवें दशक तक हिंदी फिल्मों में कई श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का उपयोग किया गया और उन पर बनी काफी फिल्में सफल भी रहीं। ऊपर जिन फिल्मों का उल्लेख किया गया, वे सभी व्यावसायिक फिल्में थीं। लेकिन बंबई में बनने वाली ज्यादातर व्यावसायिक फिल्मों पर व्यावसायिकता इस कदर हावी हो गई कि हिंसा, मारधाड़, बलात्कार प्रतिशोध, और सेक्स के फार्मूले पर बनी फिल्में ही ज्यादा मात्रा में दर्शकों के सामने परोसी गईं। इन फिल्मों को बंबइया फार्मूले पर आधारित मसाला फिल्मों की संज्ञा दी गई। मजे की बात यह रही कि ऐसी मसालायुक्त फिल्में बनाने वाले फिल्मकार बराबर यही कहते रहे कि वे तो वैसी ही फिल्में बनाते हैं जो दर्शकों को पसंद आती हैं। हकीकत यह है कि दर्शकों पर वे फिल्में थोपी जाती रही हैं। दर्शक मनोरंजन तो चाहते हैं और साथ ही नाच-गाने भी, लेकिन ऊटपटांग कहानी पर आधारित फिल्मों को अब वे पसंद नहीं करते। वे कुछ नयापन चाहते हैं।

दर्शकों को बंबइया फार्मूले पर बनी ऊटपटांग किस्म की फिल्मों से निजात दिलाने के लिए छठे दशक में यथार्थवादी फिल्मों की एक नई लहर आई। इसे 'नया सिनेमा', 'समांतर सिनेमा' या 'सार्थक सिनेमा' आदि नामों से पुकारा गया। सत्यजित रे, ऋत्विक घटक और मृणाल सेन इसके संस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने कई यथार्थवादी फिल्में बंगला-हिंदी में बनाईं। सत्यजित राय की फिल्मों में *पथेर पांचाली, अपूर संसार* और *अपराजिता*, ऋत्विक घटक की फिल्मों में *मेघे ढाका तारा, कोमल गांधार* और *सुवर्ण रेखा* तथा मृणाल सेन की फिल्मों में *भुवन शोम, कोरस* और *मृगया* उल्लेखनीय हैं। इनके बाद बंबई के फिल्मकारों ने भी ऐसी यथार्थवादी फिल्में बनाईं। इनमें बासु चटर्जी की *सारा आकाश*, राजेंद्र सिंह बेदी की *दस्तक* , मणि कौल की *उसकी रोटी* आदि उल्लेखनीय फिल्में हैं। शाम बेनेगल ने भी शबाना आजमी, नसीरुद्दीन शाह, स्मिता पाटिल, ओमपुरी, अमरीश पुरी और गिरीश कर्नाड जैसे कलाकारों को लेकर *अंकुर, मंथन, निशांत, भूमिका, जुनून* और *कलयुग* जैसी फिल्में बनाईं।

दक्षिण के फिल्मकार भी इस दिशा में आगे आए। रामू कारियार की फिल्म *चेम्मीन* (1965) को राष्ट्रपति का स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। इसके बाद दक्षिण के और भी फिल्मकारों ने कुछ यथार्थवादी फिल्में बनाईं। आजकल अडूर गोपाल कृष्णन् इस दिशा में काम कर रहे हैं।

लेकिन यह नया सिनेमा या यथार्थवादी सिनेमा ज्यादा चला नहीं, क्योंकि इसके तहत बनने वाली फिल्में आम दर्शक तक पहुंच ही नहीं पाईं। हालांकि वे फिल्में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित और पुरस्कृत हुईं, उनको बनाने वाले फिल्मकार तथा उनमें काम करने वाले कलाकार भी पुरस्कृत और सम्मानित हुए लेकिन व्यावसायिकता की दृष्टि से ऐसी फिल्मों का निर्माण बहुत बड़ा घाटे का सौदा रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि आम दर्शक का बंबइया फार्मूले पर आधारित व्यावसायिक फिल्मों से मोहभंग करने वाले फिल्मकार और कलाकार स्वयं ही व्यावसायिकता के मोहजाल में फंस गए और व्यावसायिक फिल्मों की ओर उन्मुख हो गए।

यथार्थवादी फिल्मों के प्रवर्त्तक और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के फिल्मकार सत्यजित राय भी यह मानते थे कि कहानी के अनुसार, निर्देशक के व्यक्तित्व के अनुसार, चलचित्रों की रीति में परिवर्तन आना स्वाभाविक है। सत्यजित राय फिल्मों में गीतों के प्रयोग के भी विरुद्ध नहीं थे। बस वह किसी फिल्म में सिचुएशन से हटकर कोई अलग गीत जोड़ने के खिलाफ थे। निर्माताओं के लिए भी उन्होंने एक स्थान पर कहा है- 'दर्शक की समझ में क्या आता है, वह क्या चाहता है, किससे प्रसन्न होता है- इस बात की उपेक्षा

पृष्ठ 33 पर जारी

एक समर्पित फिल्मकार

हृषीकेश मुखर्जी का कद किसी भी पुरस्कार से बड़ा है / वह उन फिल्मकारों में से हैं जिनका रचनाकर्म पुरस्कारों या सम्मानों से नहीं तोला जा सकता / लेकिन इसके बावजूद दादा साहेब फालके पुरस्कार उन्हें मिलने की खबर उन लाखों फिल्म प्रेमियों को खुशी से भर गई जो उनकी फिल्मों के प्रशंसक हैं / हृषिदा के नाम से लोकप्रिय हृषीकेश मुखर्जी उस पीढ़ी के सदस्य हैं जिन्होंने भारतीय सिनेमा के विकास में अपनी जिंदगी खपा दी / अपनी लगभग हरेक फिल्म में हृषिदा ने गिरते नैतिक मूल्यों के प्रति चिंता जताकर एक जिम्मेदार नागरिक होने का दायित्व निभाया है / दादा साहेब फालके पुरस्कार से सम्मानित फिल्मकार हृषीकेश मुखर्जी की फिल्मों का परिचय दे रहे हैं **युद्धवीर सिंह**

हृषीकेश मुखर्जी का कद किसी भी पुरस्कार से बड़ा है। वह उन फिल्मकारों में से एक हैं जिनका रचनाकर्म पुरस्कारों या सम्मानों से नहीं तोला जा सकता। लेकिन इसके बावजूद दादा साहेब फालके पुरस्कार उन्हें मिलने की खबर उन लाखों फिल्म प्रेमियों को खुशी से भर गई जो उनकी फिल्मों के प्रशंसक हैं। हृषिदा के नाम से लोकप्रिय हृषीकेश मुखर्जी उस पीढ़ी के सदस्य हैं जिन्होंने भारतीय सिनेमा के विकास में अपनी जिंदगी खपा दी। बिमल राय से फिल्म निर्माण की बारीकियां सीखने वाले हृषिदा शशधर मुखर्जी के बुलावे पर कलकत्ता से मुंबई आए और फिर यहीं के होकर रह गए।

हृषिदा ने अपना फिल्म कैरियर तकनीशियन की हैसियत से शुरू किया। वह भाग्यशाली रहे कि उन्हें विमल राय जैसे फिल्मकार का सान्निध्य मिला। यह वह दौर था जब फिल्म निर्माण किसी एक का नहीं, सामूहिक दायित्व का काम था। फिल्म से जुड़ा हर व्यक्ति फिल्म निर्माण के हर पक्ष में रुचि लेता था। बिमल राय उन दिनों *दो बीघा जमीन* की योजना बना रहे थे। फिल्म की कहानी संगीतकार सलिल चौधरी लिख चुक रहे थे। अब ऐसे शख्स की जरूरत थी जो मजबूत पटकथा तैयार कर सके। बिमल राय ने यह जिम्मा हृषीकेश मुखर्जी को सौंपा। हृषिदा ने ऐसी पटकथा तैयार की कि भारतीय सिनेमा की दिशा ही बदल गई। डी सीका की *बाइसकिल थीव्स* से प्रेरित *दो बीघा जमीन* से भारत में यथार्थवादी फिल्म आंदोलन ने जोर पकड़ा। फिल्मों में संपादन का दायित्व निभाने के बाद हृषीकेश मुखर्जी ने जब निर्देशक की टोपी पहनने का फैसला किया तो अपने गुरु बिमल राय की तरह उन्होंने भी यथार्थ को पर्दे पर उतारने के लिए सरल व सहज कथानकों का सहारा लिया। ऋत्विक घटक की कहानी पर हृषिदा ने 1957 में *मुसाफिर* फिल्म का निर्माण किया। दिलीप कुमार, सुचित्रा सेन, किशोर कुमार व उषा किरण जैसे कलाकारों की भूमिका वाली यह फिल्म ऐसे घर की कहानी है जहां मुसाफिर यानी किराएदार आते-जाते रहते हैं। *मुसाफिर* में एक साथ तीन कहानियां चलती हैं। अपने पहले ही प्रयास में एक ऐसे कथानक को, जो उलझ भी सकता था, हृषिदा ने सहज व सरल बनाकर पेश किया।



हृषीकेश मुखर्जी

दो साल बाद 1959 में हृषिदा ने राजकपूर को लेकर *अनाड़ी* फिल्म का निर्माण किया। एक सीधे-सादे इंसान का भोलापन किस तरह एक घाघ व्यवसायी के घुटने टिकवा देता है, इसका सहज व दिलचस्प फिल्मांकन है। सहज स्थितियों में ही हास्य उभर सकता है, यह बात *अनाड़ी* से ही सामने आई। बाद में यही बात हृषिदा की फिल्मों की विशेषता बन गई। *अनुराधा, मेम दीदी, असली नकली* व *सांझ और सवेरा* सरीखी फिल्मों ने हृषिदा को स्थापित तो कर दिया लेकिन विशिष्ट पहचान *अनुपमा* और *आशीर्वाद* जैसी फिल्मों से मिली। अनुपमा एक ऐसी लड़की की कहानी है। जिसके जन्म के साथ ही उसकी मां चल बसती है। लड़की का पिता उसे अपनी पत्नी की मृत्यु का कारण मानता है और उसे स्वीकार नहीं कर पाता। बच्ची जैसे-जैसे बड़ी होती है, पिता का स्नेह उसके प्रति बढ़ता जाता है। लेकिन स्पष्ट रूप से वह उसे व्यक्त नहीं कर पाता। *अनुपमा* से हृषिदा ने साबित किया कि संवेदनशील व कठिन कथ्य को भी सहज व सरल ढंग से पेश किया जा सकता है। *अनुपमा* को राष्ट्रपति का रजत पदक मिला।

आशीर्वाद फिल्म में हृषिदा पहली बार समाज के प्रति जिम्मेदार फिल्मकार के रूप में सामने आए। *आशीर्वाद* में हृषिदा छुआछूत, शोषण व जमींदारी प्रथा पर चोट करते हैं। *आशीर्वाद* का कथानक भी सहज व सरल है। गांव के जमींदार का दामाद छोटे ठाकुर ऊंच-नीच में विश्वास नहीं करता। गांव के एक अछूत से तो मृदंग बजाना तक सीखता है। जमींदार

की बेटी यानी उसकी पत्नी को यह पसंद नहीं। वह गांव के लोगों पर अत्याचार करने के मौके तलाशती रहती है। एक दिन वह अछूतों की बस्ती को आग लगवा देती है। छोटे ठाकुर घर छोड़कर चला जाता है। एक दिन जमींदार का मुंशी अछूतों के मुखिया की बेटी से बलात्कार की कोशिश में छोटे ठाकुर द्वारा मारा जाता है। छोटे ठाकुर को जेल हो जाती है। लंबे अर्से बाद वह घर लौटता है- बेटी की शादी के मौके पर सिर्फ आशीर्वाद देने के लिए।

आशीर्वाद के लिए अशोक कुमार को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला तो फिल्म को राष्ट्रपति का रजत पदक। हृषिदा की अगली दोनों फिल्में *सत्यकाम* व *आनंद* भी राष्ट्रपति के रजत पदक से पुरस्कृत हुईं।

सत्यकाम भारतीय सिनेमा की श्रेष्ठ यथार्थवादी फिल्मों में से एक मानी जाती है। सन् 1969 में निर्मित इस फिल्म में हृषिदा ने आजाद भारत में फल-फूल रहे भ्रष्टाचार को अपनी फिल्म का विषय बनाया। *सत्यकाम* सत्यव्रत नामक ऐसे ईमानदार इंजीनियर की कहानी है, जिसे ईमानदारी की सजा भोगनी पड़ती है। आजाद भारत की कमजोर नौकरशाही व भ्रष्ट ठेकेदार सत्यव्रत को खरीद नहीं पाते तो उसे इतना परेशान करते हैं कि वह मौत के दरवाजे तक पहुंच जाता है। नाटकीय होने के बावजूद फिल्म में आजाद भारत के हालात का प्रामाणिक चित्रण है।

कैंसर के मरीज को केंद्र में रखकर बनाई गई *आनंद* पर भावुक फिल्म होने का आरोप लगा, लेकिन सच तो यह है कि *आनंद* मानव संबंधों का अध्ययन है। कम ही लोग जानते हैं कि हृषिदा यह फिल्म राजकपूर को लेकर बनाना चाहते थे। राजकपूर हृषिदा को बाबू मोशाय पुकारते थे। *आनंद* का केंद्रीय पात्र आनंद (राजेश खन्ना) भी डा. भास्कर (अमिताभ बच्चन) को बाबू मोशाय पुकारता है। आनंद को कैंसर है। उसे पता है कि वह छह माह के भीतर मर जाएगा लेकिन वह जिंदगी को सहज भाव से लेता है और हर किसी को हंसाता रहता है। आनंद और बाबू मोशाय का रिश्ता फिल्म की जान है, बाबू मोशाय से मिला 'प्रेम' आनंद को हिला देता है। अंत में आनंद सच्चाई स्वीकार करता है और कहता है- 'बाबू मोशाय, मैं मरना नहीं चाहता'।

आनंद के बाद रोगियों पर कई फिल्में बनीं लेकिन लोकप्रियता के मामले में कोई भी *आनंद* का मुकाबला नहीं कर पाई- खुद हृषिदा द्वारा बनाई *मिली* (बेहतरीन होने के बावजूद) भी।

नमक हराम हृषिदा के फिल्म जीवन का चरम मानी जा सकती है। वर्ग संघर्ष को उन्होंने इस फिल्म में जिस सहज व सरल लेकिन प्रभावी ढंग से पर्दे पर उतारा है, वैसा तो विशुद्ध कला फिल्मों के झंडाबरदार भी नहीं कर पाए। इस फिल्म के बाद हृषिदा *चुपके-चुपके, गोलमाल, नरम-गरम* सरीखी फिल्मों तक सीमित हो गए। हल्का-फुल्का हास्य की उनकी फिल्मों का आधार हो गया। लेकिन उनकी फिल्में हास्यास्पद कभी नहीं बनीं। धर्म, जाति व भाषा को उन्होंने कभी हास्य का विषय नहीं बनाया। सच तो यह है कि हल्की-फुल्की होने के बावजूद उनकी फिल्में सिर्फ मनोरंजन का औजार कभी नहीं बनीं। *बावर्ची, खूबसूरत* व *नरम-गरम* सरीखी फिल्मों से भी वह दर्शकों को शिक्षित व जागरूक करने का काम करते रहे।

हृषिदा की सबसे बड़ी विशेषता यही रही कि उन्होंने आम आदमी को अपनी फिल्मों का पात्र बनाया। यही वजह है कि उनकी लगभग हरेक फिल्म का पात्र अमर हो गया। *अनाड़ी* की मिसेज *डिसूजा* हो या राजकुमार, *आनंद* का बाबू मोशाय को या आनंद, *सत्यकाम* का सत्यव्रत हो या *आशीर्वाद* का छोटे ठाकुर, *नमक हराम* का विक्की हो या सोमू- सभी हमें अपने आसपास घूमते चरित्र लगते हैं।

हृषिदा पर अक्सर यह भी आरोप लगाया जाता है कि उन्हें अपनी फिल्मों के लिए बड़े सितारों पर निर्भर रहना पड़ा है। सच तो यह है कि *मुसाफिर* व *अनाड़ी* के बाद उनकी फिल्में नायकवाद से मुक्त हो गईं। उन्होंने जो चालीस से ज्यादा फिल्में बनाईं, उनमें से अधिकांश में छोटे कलाकार ही हैं। धर्मेंद्र, राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन, अशोक कुमार, संजीव कुमार, रेखा व जया भादुड़ी जैसे सितारे भी उनकी फिल्मों में मात्र पात्र की तरह उपस्थिति हुए हैं। कहना न होगा कि इन तमाम सितारों ने अपना श्रेष्ठ अभिनय हृषिदा की फिल्मों में ही किया है।

यह हिंदी सिनेमा का दुर्भाग्य ही है कि उनकी फिल्मों का सही मूल्यांकन आज तक नहीं हो पाया है। हल्की-फुल्की फिल्में बताकर उनके रचनाकर्म को कम आंकने की कोशिशें ज्यादा हुई हैं। सच तो यह है उनकी फिल्मों को महसूस किया जा सकता है। अपनी लगभग हरेक फिल्म में हृषिदा ने गिरते नैतिक मूल्यों के प्रति चिंता जताकर एक जिम्मेदार नागरिक होने का दायित्व निभाया है।

पांच दशक से ज्यादा समय तक फैले अपने फिल्मी जीवन में हृषिदा ने कभी भी बाक्स आफिस को निगाह में रखकर फिल्में नहीं बनाईं, न ही कभी पुरस्कारों की परवाह की। उन्हें इस बात की संतुष्टि है कि दादा साहेब फालके पुरस्कार से सम्मानित करके उनके योगदान को मान्यता दी गई है। □

एक समर्पित फिल्मकार

पृष्ठ 31 से आगे

फिल्म-निर्माता नहीं कर सकता।' इस बात को स्पष्ट करते हुए सत्यजित राय आगे कहते हैं- 'दर्शक सुघड़ प्लाट-संवलित कहानी चाहते हैं, चाहे वह कामेडी हो या ट्रेजेडी, समसामयिक हो या पौराणिक-- दर्शक नाटकीय घात-प्रतिघात चाहते है, सुदर्शन नायक-नायिका चाहते हैं (जिसके कारण बड़े-बड़े सितारों को लेकर फिल्में बनाने का स्टार-सिस्टम चालू हुआ), मनोरम दृश्यावली चाहते हैं, तड़क-भड़कदार परिवेश चाहते हैं, साथ ही विभिन्न रसों का एक उपभोग्य समन्वय चाहते हैं जिससे कि सर्वांत में उनका मन परिपूर्ण हो उठे। आश्चर्य की बात है कि इस अकाट्य फार्मूले के माध्यम से भी बहुत अच्छी फिल्में बनी हैं।'

सत्यजित राय के इन कथनों के परिप्रेक्ष्य में यदि साहित्यिक कृतियों पर बनी पिछली शताब्दी में बनी हिंदी फिल्मों को और पिछले वर्ष की सफल फिल्मों को आईना मानकर देखा जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि दर्शक वास्तव में क्या चाहते हैं। इन फिल्मों का उल्लेख पहले हो चुका है।

आवश्यकता अब इस बात की है कि हमारे फिल्मकार और साहित्यकार मिलकर बीच का कोई ऐसा रास्ता निकालें कि साहित्यिक कृतियों की मूल आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए दर्शकों को स्वस्थ मनोरंजन के साथ कुछ संदेश ग्रहण करने को मिल सके, कुछ मानवीय मूल्यों के दर्शन हो सकें। □

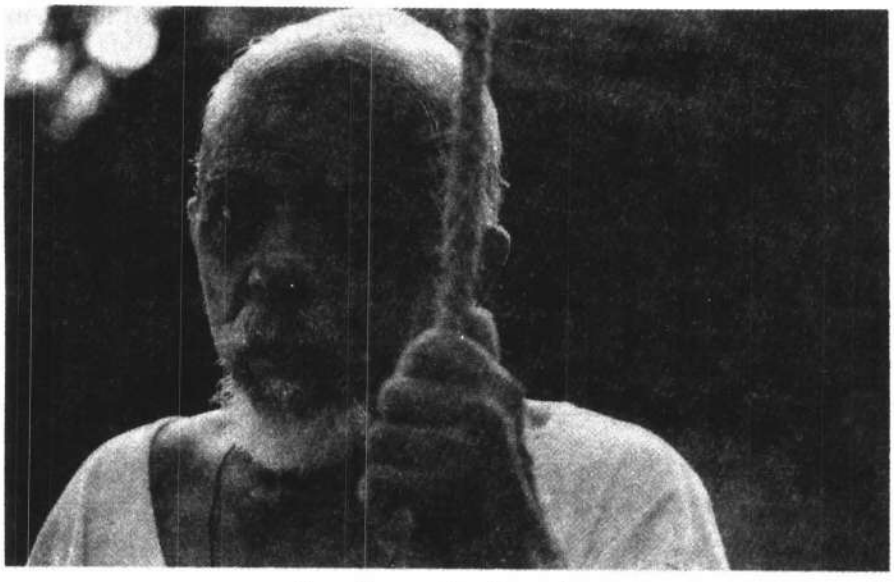
राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार

***सैंतालीसवां राष्ट्रीय फिल्म समारोह एक तरह से आंचलिक सिनेमा के नाम रहा / आंचलिक फिल्मों ने न सिर्फ सर्वाधिक पुरस्कार बटोरे वरन् अभिनय से लेकर तकनीक तक हर क्षेत्र में आंचलिक फिल्मों के कलाकार व तकनीशियन ही आगे रहे / श्रेष्ठता के लिए जो होड़ इस बार आंचलिक सिनेमा में देखने को मिली, उसकी चौथाई भी हिंदी सिनेमा में नहीं दिखी / इस बार के राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कारों पर* युद्धवीर सिंह**

सैंतालीसवां राष्ट्रीय फिल्म समारोह एक तरह से आंचलिक सिनेमा के नाम रहा। आंचलिक फिल्मों ने न सिर्फ सर्वाधिक पुरस्कार बटोरे वरन् अभिनय से लेकर तकनीक तक हर क्षेत्र में आंचलिक फिल्मों के कलाकार व तकनीशियन ही आगे रहे। श्रेष्ठता के लिए जो होड़ इस बार आंचलिक सिनेमा में देखने को मिली, उसकी चौथाई भी हिंदी सिनेमा में नहीं दिखी। मलयालम सिनेमा ने इस बार के पुरस्कारों में से सर्वाधिक 14 पुरस्कार (कथा व गैर कथा फिल्मों दोनों में) बटोरे। देखा जाए तो सार्थक सिनेमा की पताका सही मायनों में केरल में ही फहरा रही है। पिछले कई साल से राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहो में हर बार मलयालम सिनेमा अलग दिखाई देता है।

इसी साल जनवरी में अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में जयराज की *करुणम्* ने स्वर्ण मयूर जीतकर जहां विश्वस्तर पर मलयालम सिनेमा की धाक जमाई वहीं शाजी एन. करुण की *वानप्रस्थम* ने सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार जीतकर इस धारणा को और पुख्ता किया कि सार्थक सिनेमा के लिए मलयालम फिल्मों की ओर ही देखना होगा। शाजी एन. करुण की यह तीसरी फिल्म है। शाजी ने अपनी पहली ही फिल्म *पिरावी* से देश के अग्रिम पंक्ति के फिल्मकारों में जगह बना ली थी। *पिरावी* ने राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय 31 पुरस्कार हासिल किए थे।

वानप्रस्थम को हालांकि *पिरावी* जैसी चर्चा तो नहीं मिली लेकिन कथ्य व शिल्प हर दृष्टि से यह बेजोड़ फिल्म है। *वानप्रस्थम* अपने पिता की पहचान से वंचित ऐसे कथकली नर्तक की कहानी है जिसे अपने पैतृक अधिकारों से भी वंचित रहना पड़ा। कथकली केरल वासियों के लिए सिर्फ एक कला नहीं, वरन् जिंदगी जीने का ढंग है। अरविंदन, अडूर गोपाल कृष्णन व जयराज से लेकर शाजी तक केरल के तमाम फिल्मकारों ने पर्दे पर कथकली के माध्यम से कई प्रयोग किए हैं। *वानप्रस्थम* में जाति व्यवस्था, कला संरक्षण, गुरु-शिष्य परंपरा व पहचान से वंचित कलाकार की त्रासदी का सूक्ष्म चित्रण है।



स्वर्ण मयूर से पुरस्कृत फिल्म 'करुणम' का दृश्य

छोटी जाति में जन्मे कथकली नर्तक कुन्हीकुट्टन को चाहकर भी पता नहीं चलता कि उसका पिता कौन है। उसकी यह व्यथा उसके नृत्य में व्यक्त होती है। शादी से उसकी परेशानियां बढ़ती हैं। बेटे का जन्म भी उसका घाव नहीं भर पाता।

एक दिन जमींदार की भतीजी सुभद्रा कुन्हीकुट्टन को मंच पर अर्जुन के रूप में देखकर मोहित हो जाती है। दोनों यथार्थ और कल्पना में भेद नहीं कर पाते। कुन्हीकुट्टन को महाभारत का अर्जुन समझकर सुभद्रा उसके प्रेम में बंध जाती है। सुभद्रा कुन्हीकुट्टन के पुत्र को जन्म देती है लेकिन उसे दिखाने से इन्कार कर देती है। कुन्हीकुट्टन टूट जाता है। पहले वह अपने पिता से वंचित रहा और अब पुत्र से। कुन्हीकुट्टन सुभद्रा के नाम एक पत्र छोड़ जाता है कि वह पुत्र को उसके पिता के बारे में जरूर बताए



सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार पाने वाली मलयालम फिल्म 'वानप्रस्थम' में कुन्हीकुट्टन की भूमिका में मोहनलाल

ताकि जो पीड़ा उसने सही, उसके पुत्र को न सहनी पड़े।

शाजी की पहली दोनों फिल्में *पिरावी* व *स्वाहम* में भी पिता-पुत्र संबंधों का चित्रण है। *वानप्रस्थम्* में शाजी ने जाति व्यवस्था व कलाकारों की जिंदगी का मार्मिक चित्रण किया है।

कुन्हीकुट्टन के रूप में मोहनलाल का अभिनय चरम पर है। स्नेह से वंचित पुत्र, विवश पिता व अभावग्रस्त नर्तक को उन्होंने पर्दे पर चुपके से उतार दिया है। मोहनलाल मलयालम फिल्मों के सुपर स्टार हैं। पिछले बीस साल में वह ढाई सौ से ज्यादा फिल्मों में अभिनय कर चुके हैं लेकिन उनके कलाकार मन को संतुष्टि सार्थक सिनेमा से ही मिलती है! वह हमेशा उद्देश्य परक सिनेमा में काम तलाशते रहते हैं! *वानप्रस्थम* का तो निर्माण भी उन्होंने किया है! कथकली नर्तक की भूमिका को वह इस व्यवसाय की गुरुदक्षिणा कहते हैं। बाक्स आफिस पर *वानप्रस्थम्* नहीं चल पाई, क्या इसका मोहनलाल को अफसोस है? वह कहते हैं– *वानप्रस्थम* मैंने पैसा कमाने के लिए नहीं बनाई! यह मेरे लिए गर्व की बात है कि इस फिल्म के जरिए मुझे देश-विदेश के फिल्म प्रेमियों तक पहुंचने का मौका मिला है।'

मोहनलाल का तो यह तीसरा राष्ट्रीय पुरस्कार है। इससे पहले वह *किरीडम्* के लिए ज्यूरी का विशेष पुरस्कार पा चुके हैं। वैसे ज्यूरी को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का फैसला करने में खासी मशक्कत करनी पड़ी! ज्यूरी तय ही नहीं कर पा रही थी कि मोहनलाल व कलाभवन मणि में श्रेष्ठ कौन है! कलाभवन मणि ने एक अन्य मलयालम फिल्म *वासन्तियुम लक्ष्मीयुम पिन्नैज्ञानम्* में नेत्रहीन व्यक्ति की भूमिका निभाई है। ज्यूरी ने रास्ता मणि को विशेष पुरस्कार देकर निकाला! ज्यूरी ने कहा– 'मणि ने *वासन्तियुम लक्ष्मीयुम पिन्नैज्ञानम्* में एक ऐसे नेत्रहीन व्यक्ति के रूप में संवेदनशील एवं यथार्थपूर्ण अभिनय किया है जो दृढ़ता से कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने सद्व्यवहार से जीवन को सार्थक बनाता है।' वैसे यह लगातार तीसरा साल रहा जब किसी मलयालम अभिनेता ने अभिनय का राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल किया है। पिछले साल *बाबा साहेब अंबेडकर* फिल्म के लिए मामूटी ने अजय देवगन के साथ यह पुरस्कार बांटा था! दो साल पहले सुरेश गोपी और बालचंद्र मेनन ने संयुक्त रूप से यह पुरस्कार हासिल किया था!

वानप्रस्थम के लिए ही ए. श्रीकर प्रसाद ने सर्वोत्तम संपादन का पुरस्कार जीता! अब तक डेढ़ सौ से ज्यादा कथा व गैर कथा फिल्मों का संपादन कर चुके सैंतीस वर्षीय ए. श्रीकर प्रसाद इससे पूर्व *राख* (1988) *राग-विराग* (1996) *नौका चरितरामु* (1996 गैर कथा फिल्म) व *द टेररिस्ट* के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल कर चुके हैं।

राज्य स्तर पर दूसरी सर्वश्रेष्ठ फिल्म मानी गई *जलमर्मरम्* ने दो राष्ट्रीय पुरस्कार जीते! *जलमर्मरम* में औद्योगिक नगरों व महानगरों में बढ़ते प्रदूषण के प्रति चिंता से उपजी समस्याओं को परीकथा का काल्पनिक पुट देकर रोचक व सहज ढंग से पेश किया गया है। इस फिल्म के लिए नौ वर्षीय अश्विन थंपी को सर्वश्रेष्ठ बाल अभिनेता का पुरस्कार मिला!

मलयालम कलाकारों ने सर्वोत्तम पार्श्व गायक व सर्वोत्तम पटकथा का पुरस्कार भी जीता! *वासन्तियुम लक्ष्मीयुम पिन्नैज्ञानम्* में 'चंतु पोट्टम...' गीत के मर्मस्पर्शी गायन के लिए एम.जी. श्रीकुमार सर्वोत्तम पार्श्वगायक के रूप में पुरस्कृत हुए तो सर्वोत्तम पटकथा का पुरस्कार मलयालम के विद्वान माजंपु कुंजकुट्टन को फिल्म *करुणम्* के लिए मिला! *करुणम्* को भारत के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह 2000 में स्वर्ण मयूर मिला था। माजंपु कुंजकुट्टन इससे पूर्व *देशाइतम* के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार जीत चुके हैं।



बंगला फिल्म 'परोमीतार एक दिन' का एक दृश्य



फिल्म 'बाड़ीवाली' में किरण खेर

सर्वोत्तम मलयालम फिल्म के रूप में *पुनराधिवासम्* पुरस्कृत हुई! *पुनराधिवासम्* मध्यम वर्गीय परिवार के उत्पन्न तनाव व मानवीय संबंधों की कहानी है। बीमार व बूढ़े पिता को गांव में अकेला छोड़कर सुधाकरन अपनी पत्नी सावित्री व पुत्री के साथ शहर में आकर रहने लगता है। बेटे को पिता के मर्मस्पशी पत्र मिलते हैं तो वह विचलित हो जाता है! सुधाकरन को इन क्षणों में अपनी अफसर शालिनी का संग राहत प्रदान करता है। शालिनी का जीवन भी उथल-पुथल भरा है। दोनों गांव जाते हैं! सुधाकरन के पिता की सेवा करके शालिनी को शांति व संतुष्टि मिलती है। शालिनी व सुधाकरन निकट तो आते हैं लेकिन असुरक्षा की भावना उन्हें घेरे रहती है।

मानव संबंधों के नए अर्थ खोजने की कोशिश करती इस फिल्म की एक खासियत नंदिता दास का विलक्षण अभिनय भी है!

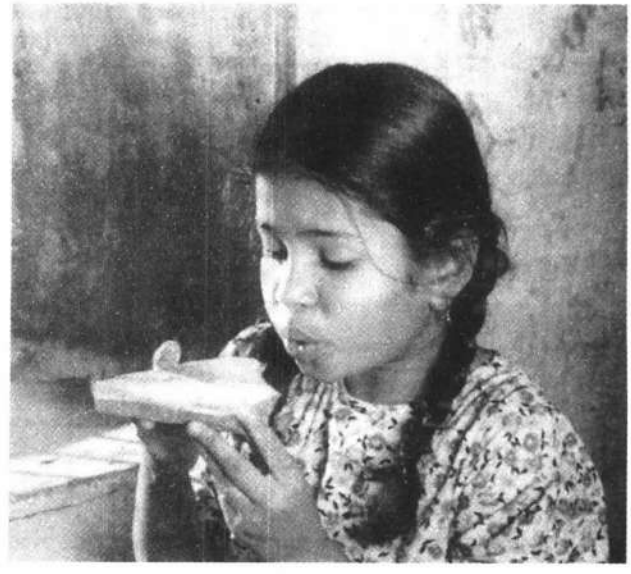
समानांतर सिनेमा को समृद्ध करने में बंगला फिल्मों का विशिष्ट योगदान है! सर्वश्रेष्ठ निर्देशन का राष्ट्रीय पुरस्कार इस बार बंगला फिल्म *उत्तरा* के हिस्से में आया! *उत्तरा* का निर्देशन प्रख्यात फिल्मकार बुद्धदेव दासगुप्ता ने किया है! सत्यजित रे और ऋत्विक घटक की परंपरा को आगे बढ़ा रहे बुद्धदेव दासगुप्ता को *उत्तरा* के लिए वेनिस फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का पुरस्कार मिला! दो दशक से भी ज्यादा समय से फिल्म निर्माण में सक्रिय बुद्धदेव दास गुप्ता की फिल्में अपनी जटिलताओं की वजह से देश-विदेश के फिल्म समीक्षकों व प्रबुद्ध दर्शकों के लिए आकर्षण का विषय बनती रही हैं। *दूरत्व, नीम, अन्नपूर्णा, तहादेर कथा, लाल दरजा* व *चराचर* सरीखी फिल्मों ने देश-विदेश में दर्जनों पुरस्कार हासिल किए हैं! *बाघ बहादुर, लाल दरजा* व *चराचर* सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार जीत चुकी हैं। निर्णायक मंडल ने उनके सम्मान में कहा है- 'सर्वोत्तम निर्देशन का पुरस्कार बुद्धदेव दासगुप्ता को बंगला कथा फिल्म *उतरा* में जीवन के विभिन्न तत्वों, रूपकों, प्रतीकों एवं लोक कलाओं का ताना-बाना बुनने के लिए दिया गया है।' निर्देशक ने आज के इस धूर्त युग में मानवता की परिभाषा पर प्रश्नचिन्ह भी लगाया है।

इस बार सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार किरण खेर को बंगला फिल्म *बाड़ीवाली* के लिए मिला। किरण इससे पूर्ण श्याम बेनेगल की *सरदारी बेगम* के लिए सर्वश्रेष्ठ सह अभिनेत्री का पुरस्कार जीत चुकी हैं। कल्पना लाजमी की *दरमियां'* के अलावा किरण खेर ने नाटकों में भी अभिनय किया है।

ज्यूरी के शब्दों में कहें तो *बाड़ीवाली* में किरण खेर ने ऐसी प्रौढ़ा की भूमिका निभाई है जिसकी अधूरी आकांक्षाएं भावनात्मक शोषण के लिए उसे सपनों के एक सौदागर के हाथों का खिलौना बना डालती हैं।

किरण खेर ने इस फिल्म में अभिनय में कोई नया प्रयोग नहीं किया है लेकिन एक अविवाहित प्रौढ़ा को पर्दे पर सहज ढंग से उतारने की कोशिश जरूर की है। चूंकि अभिनेत्रियों के संदर्भ में स्पर्धा काफी कम होती जा रही है इसलिए किरण औसत अभिनय के बावजूद पुरस्कार जीत ले गईं। पिछले साल सशक्त पटकथा के सहारे शबाना आजमी ने भी स्पर्धा के अभाव में औसत अभिनय के बल पर पुरस्कार हासिल कर लिया था।

बाड़ीवाली में हृदयस्पर्शी व मजबूत कथानक ने किरण खेर की सहायता की। फिल्म का कथानक कुछ इस प्रकार है। हवेली में रह रही अधेड़ अविवाहिता (जिसके पति की विवाह से एक दिन पूर्व मृत्यु हो गई थी) को खर्चा चलाने के लिए हवेली का एक हिस्सा फिल्म शूटिंग के लिए किराए पर देना पड़ता है। फिल्म का निर्देशक प्रौढ़ा की अधूरी आकांक्षाओं को फिर जगा देता है। वह उसे फिल्म में एक छोटा-सा रोल भी देता है। प्रौढ़ा खुद को निर्देशक के साथ भावनात्मक रूप से बंधा हुआ महसूस करती है। शूटिंग खत्म होने के काफी दिनों बाद निर्देशक का एक पत्र व ड्राफ्ट आता है। पत्र में लिखा है कि फुटेज बढ़ने के कारण फिल्म का वह हिस्सा काटना पड़ा जिसमें



अमोल पालेकर की फिल्म 'कैरी' का एक दृश्य

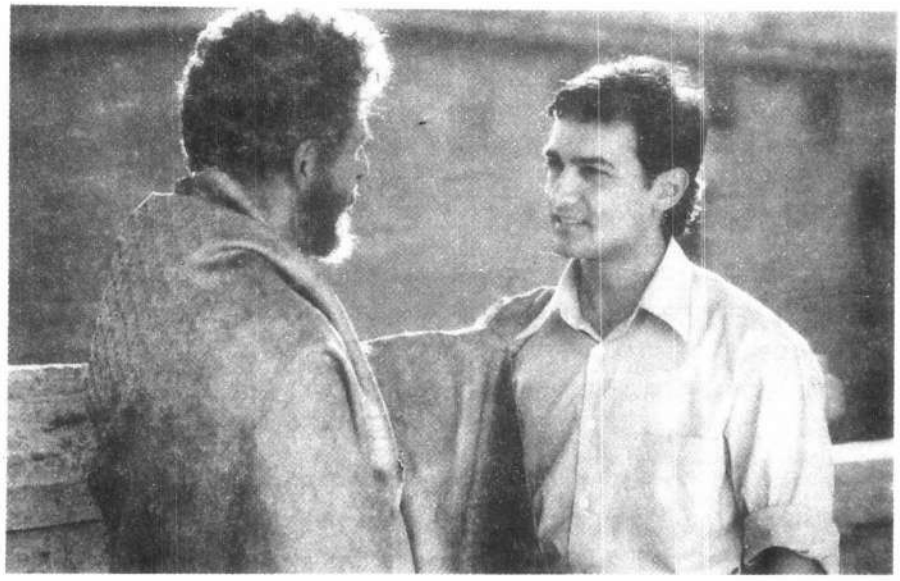
आपका अभिनय था। प्रौढ़ा विचलित हो जाती है और चिट्ठी व ट्राफ्ट फाड़कर फेंक देती है। एक बार फिर वह अकेली हो जाती है।

सह अभिनेत्री का पुरस्कार भी बंगला अभिनेत्रियों के खाते में गया। एक नाम पर राय नहीं बन पाई तो ज्यूरी को यह पुरस्कार सुदीप्ता चक्रवर्ती व सोहनी हालदार के बीच बांटना पड़ा। सोहनी हालदार ने अपर्णा सेन निर्देशित *पारोमितार एक दिन* में मानसिक रूप से विक्षिप्त लड़की की भूमिका की है जबकि *बाड़ीवाली* में मजबूत इरादों वाली नौकरानी की भूमिका निभाई है। *पारोमितार एक दिन* को दो पुरस्कार और मिले। सर्वोत्तम बंगला फिल्म तो वह मानी ही गई, सर्वोत्तम पार्श्वगायिका का पुरस्कार भी जयश्री दासगुप्ता को 'अमार प्रकाश होलो...' गीत गायन के लिए इसी फिल्म हेतु मिला। अपनी पहली ही फिल्म *36 चौरंगी लेन* के लिए सर्वश्रेष्ठ निर्देशन का पुरस्कार जीतने वाली अपर्णा सेन के *पारोमितार एक दिन* में एक सास व बहू के जरिए समाज एवं मानवीय संबंधों के बदले प्रतिमानों की कथा कही है।

पारोमितार एक दिन पारोमिता की स्मृतियों की कहानी है। श्राद्ध के मौके पर वह अपनी पूर्व ससुराल आती है और स्मृतियां उभरने लगती हैं। पारोमिता पारंपरिक बंगला परिवार में ब्याही जाती है। शराबी पति बीरेश के साथ उसकी पटती नहीं, लेकिन वह अपनी सास के निकट आ जाती है। पारोमिता जब विकलांग पुत्र को जन्म देती है तो बीरेश और पारोमिता के संबंध और कलहपूर्ण हो जाते हैं। बीरेश दूसरी स्त्री के पास जाने लगता है। पारोमिता भी एक फिल्मकार को पसंद करने लगती है और उससे विवाह कर लेती है। पारोमिता को मरणासन्न स्थिति में पहुंच चुकी अपनी सास की सेवा के लिए लौटना पड़ता है। सास-बहू के संबंधों के जरिए समाज व मानव संबंधों के बदलाव को अपर्णा ने प्रभावी ढंग से पर्दे पर उकेरा है। सास के रूप में खुद अपर्णा सेन व बहू के रूप में ऋतुपर्णा सेन का सहज व सरल अभिनय हृदयस्पर्शी है।

पिछले साल तमाम बड़े पुरस्कार जीतने वाली हिंदी फिल्में अपना प्रदर्शन दोहरा नहीं पाईं। *समर* के लिए सर्वश्रेष्ठ फिल्म का सम्मान हासिल करने वाले श्याम बेनेगल की फिल्म *हरी-भरी* को सिर्फ परिवार कल्याण संबंधी सर्वोत्तम कथाफिल्म का पुरस्कार मिला। परिवार कल्याण विभाग, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा निर्मित इस फिल्म में श्याम बेनेगल ने स्त्री-स्वास्थ्य व शिक्षा की उपेक्षा को हसीना, नजमा, अफसाना, गजाला और सलमा सरीखी तीन पीढ़ियों की पांच महिला पात्रों के जरिए दिलचस्प और प्रभावी ढंग से पेश किया है।

एक उम्दा फिल्म होने के बावजूद अमोल पालेकर की *कैरी* भी सामाजिक मुद्दों पर सर्वोत्तम फिल्म का पुरस्कार ही पा सकी। हृषीकेश मुखर्जी व बासु चटर्जी के तीसरी धारा के सिनेमा में अभिनय करने के बाद निर्देशक बने अमोल ने अपना अलग रास्ता चुना। उनके द्वारा निर्देशित *अक्रीत, अनकही,*



फिल्म 'सरफरोश' में नसीरुद्दीन शाह और आमिर खान

थोड़ा-सा रूमानी हो जाएं, दायरा व *बांगखाड़ी* सरीखी फिल्मों की तरह *कैरी* भी उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली फिल्म है। भारत के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह के गत संस्करण में *कैरी* ने अपार प्रशंसा पाई थी। विदेशों में भी यह फिल्म सराही गई है। महिलाओं को अपनी आंतरिक शक्ति उजागर करने व अपना वजूद खोजने की प्रेरणा देने वाली इस फिल्म की कथा अमोल ने एक दस वर्षीय बालिका के जरिए कही है। बालिका के माता-पिता मर चुके हैं। उसे तानी मौसी के घर आश्रय मिलता है। तानी का पति दुष्ट व चरित्रहीन है। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद बालिका बड़ी होकर नामी लेखिका बनती है।

स्वस्थ मनोरंजन के लिए जॉन मैथ्यू माथन की *सरफरोश* पुरस्कृत हुई। गोविंद निहालानी व रिचर्ड एटनबरो के सहायक रहे जॉन की यह पहली फीचर फिल्म है। *सरफरोश* में निर्देशक ने एक ईमानदार पुलिस अफसर को केंद्र में रखकर दो समाजों के बीच संदेह के अंधेरे को छांटने की कोशिश की है। भारत व पाकिस्तान की नापाक हरकतों की फिल्म में अच्छी खबर ली गई है। लोकप्रिय सिनेमा की यह पहली फिल्म है जिसमें पड़ोसी मुल्क की हरकतों को उसके नाम के साथ पर्दे पर दिखाया गया है।

हिंदी फिल्मों के लिए संतुष्टि की बात यह रही कि सर्वोत्तम बाल-कथा फिल्म का पुरस्कार उसके हिस्से में आया। यह सम्मान गुलबहार सिंह द्वारा निर्देशित *द गोल* को मिला। *द गोल* ऐसे कोच की कहानी है जो उपेक्षित, अशिक्षित व सामाजिक तौर पर लांछित एक बालक को बिना किसी भेदभाव व दुराव के प्रोत्साहित करता है। इस तरह से यह 'एकलव्य' की कहानी है, जिसे अपने गुरु का मार्गदर्शन मिलता है।

लोकप्रिय सिनेमा के कई पुरस्कार जीतने वाले संजय लीला भंसाली हालांकि खुद तो कोई पुरस्कार नहीं जीत पाए लेकिन उनकी फिल्म *हम दिल दे चुके सनम* से जुड़े तकनीशियन व फनकार जरूर राष्ट्रीय पुरस्कारों में अपनी मौजूदगी दर्ज करवाने में कामयाब रहे। इस्माइल दरबार को सर्वोत्तम संगीत निर्देशन व अनिल मेहता को सर्वोत्तम छायांकन का पुरस्कार इसी फिल्म के लिए मिला।

हम दिल दे चुके सनम में परंपरागत हवेली का माहौल उतारने के लिए सर्वोत्तम कला निर्देशन के रूप में नितिन देसाई पुरस्कृत हुए। नितिन ने *बाबा साहेब आंबेडकर* फिल्म के लिए भी पुरस्कार पाया था। इसी फिल्म के लिए सर्वोत्तम नृत्य निर्देशन का पुरस्कार समीर व अर्थतन्ना तथा बौबी मर्चेंट को मिला।

दिखावटी लोकतंत्र में एक अकेले नागरिक का संघर्ष दिखाने वाली *शूल* सर्वोत्तम हिंदी कथा फिल्म के रूप में पुरस्कृत हुई। *शूल* का निर्देशन रामगोपाल वर्मा के सहायक ई. निवास ने किया है।

कमल हासन की चर्चित फिल्म *हे राम* के तीन पुरस्कारों सहित तमिल सिनेमा के हिस्से में देह पुरस्कार (कथा व गैर कथा फिल्म दोनों) आए। बड़ा पुरस्कार न पाने से कमल थोड़ा निराश ही हुए। कथा फिल्मों की ज्यूरी के अध्यक्ष गौतम घोष ने भी माना कि यह फिल्म ज्यादा पुरस्कारों की हकदार थी।

एन.एस.डी. से निकले अतुल कुलकर्णी को सर्वश्रेष्ठ सहअभिनेता का पुरस्कार *हे राम* के लिए ही मिला। *गांधी वर्सेस गांधी* में महात्मा की भूमिका निभाने वाले अतुल कुलकर्णी ने *हे राम* में कट्टरपंथी व्यक्ति का चरित्र अभिनीत किया है। फिल्म *कैरी* में जाधव मास्टर की भूमिका से ध्यान खींचने वाले अतुल ने *हे राम* में श्रीराम अभ्यंकर नाम के ऐसे रूढ़िवादी व नृशंस व्यक्ति की भूमिका निभाई है जो पत्नी की हत्या से बौखलाए साकेत राम (कमल हासन) के दिमाग में जहर भरने का काम करता है। महात्मा गांधी की हत्या अभ्यंकर जैसे व्यक्तियों के कारण ही हुई, इस बात को अतुल ने सहजता से पर्दे पर उतार दिया है।

हे राम के लिए ही सारिका को सर्वोत्तम वेशभूषा का पुरस्कार मिला। इसी फिल्म के लिए सर्वश्रेष्ठ विशेष प्रभाव सृजन पुरस्कार मैसर्स मंत्रा को मिला।

सर्वश्रेष्ठ गीतकार का पुरस्कार *संगमम्* फिल्म के गीत 'मतुल मुराय' ...के लिए मिला।

निर्देशक की सर्वोत्तम पहली कथा फिल्म के लिए इंदिरा गांधी पुरस्कार डालर ड्रीम्स (अंग्रेजी, निर्देशक शेखर कुमला) व *लाडो* (हरियाणवी, अश्विनी चौधरी) को मिला। राष्ट्रीय एकता संबंधी सर्वोत्तम कथा फिल्म के लिए नर्गिस दत्त पुरस्कार पंजाबी फिल्म *शहीद ऊधम सिंह* (निर्देशक चित्रार्थ) को मिला।

गैर कथा फिल्मों में अडूर गोपालकृष्णन की मलयालम फिल्म *कलामंडलम गोपी* (सर्वोत्तम छायाकंन) एम.आर. राजन की मलयालम फिल्म *नोट्टम* व अरुणा राजे पाटिल की अंग्रेजी फिल्म *मल्लिका साराभाई* (दोनों को सर्वोत्तम जीवनी संबंधी फिल्म पुरस्कार) चर्चा का विषय बनीं।

तीनों ही फिल्में अपने-अपने क्षेत्र के सिद्धहस्त कलाकारों का जीवन दिखाती हैं।

प्रख्यात फिल्मकार अडूर गोपालकृष्णन द्वारा निर्देशित *कलामंडलम गोपी* कथकली कलाकार गोपी का आत्मकथ्य है। निर्देशक गोपी के जीवन के बारे में और नर्तक बनने के लिए कितना श्रम और धैर्य चाहिए, इसका अद्‌भुत चित्रण है।

प्रकृति की मार व स्वार्थपरक राजनीति के बीच पिस रही उत्तर बिहार की जनता का दर्द पर्दे पर उकेरने वाली फिल्म *दुई पाटन के बीच में* (निर्देशक अरविंद सिन्हा) को सर्वोत्तम गैरकथा फिल्म का पुरस्कार मिला।

बदलाव के दौर में आदिवासियों के कमजोर पड़ते अस्तित्व को दर्शाने के लिए प्रदीप कुमार की *दैवंगल पडियिरंग्गंबोल* को निर्देशक का सर्वोत्तम प्रथम गैर कथा फिल्म का पुरस्कार मिला। इसी खंड में नौ और फिल्में अलग-अलग श्रेणियों में पुरस्कृत हुईं। भारतीय फिल्म जगत का सर्वाधिक प्रतिष्ठित पुरस्कार - दादा साहब फालके पुरस्कार- प्रख्यात फिल्मकार हृषीकेश मुखर्जी को प्रदान किया गया। □

रूसी-हिंदी मैत्री का साहित्यिक दूत

पृष्ठ 29 से आगे

श्चेरवात्स्की और ओल्डेनबर्ग जैसे विश्वविद्यालयी विद्वानों की देख-रेख में प्राप्त किया था। फलस्वरूप स्वयं भी विद्वत्ता के क्षेत्र में अग्रणी हुए।

1935 ई. में उन्हें भाषा विज्ञान आचार्य (डाक्टर आफ फिलालोजी) की उपाधि से सम्मानित किया गया। 1936 ई. में विज्ञान अकादमी (अकादमी आफ साइंस) का सदस्य बनाकर सर्वोच्च सोवियत सम्मान से विभूषित किया गया। इस सम्मान प्राप्ति के बाद से वह अकादमिक बारान्निकोव के नाम से प्रसिद्ध हुए। अपनी योग्यता के बल पर वह लेनिनग्राद विश्वविद्यालय और अकादमी के प्राच्य विद्या इतिहास के हिंदी-तिब्बती विभाग के अध्यक्ष चुने गए। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने उनके जीवन-काल में ही उनकी विशिष्टताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि 'भारत की पुरानी भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त वह आधुनिक भाषाओं- हिंदी, उर्दू आदि के भी उद्‌भट विद्वान हैं। जीवित भाषाओं की उपेक्षा करके केवल प्राचीन भाषाओं के पक्षपात को न पसंद करते हुए उनका ध्यान विशेष तौर से आज की भाषाओं की ओर आकृष्ट हुआ। हिंदी तो उनकी कृतियों के लिए सदा कृतज्ञ रहेगी।'

वह 1946 ई. में नई दिल्ली में आयोजित एशियाई सम्मेलन में रूसी विद्वानों के प्रतिनिधि मंडल के साथ भारत आना चाहते थे किंतु अस्वस्थता के कारण डाक्टरों द्वारा मना कर दिए जाने के फलस्वरूप उनकी इच्छा धरी रह गई। अपने जीवन काल में भारत की धरती पर कभी भी पैर न रख सकने वाले इस भारत प्रेमी उद्‌भट विद्वान की मृत्यु 4 सितंबर, 1952 को हुई। उनकी समाधि लेनिनग्राद से कुछ दूर कोमारोवो नामक स्थान पर बनाई गई और उस पर उनकी इच्छा के अनुसार देवनागरी लिपि में रामचरितमानस की यह पंक्ति- 'भलो भलाइहि पैलहहिं' अंकित की गई। भारतीयता एवं हिंदी के प्रति समर्पण की विशद भावना उनके पुत्र प्योत्र बारान्निकोव एवं पौत्र चंद्र बारान्निकोव के रूप में आगे भी जारी रही।

आचार्य बारान्निकोव ने अपनी लेखनी के माध्यम से भारत की देदीप्यमान साहित्यिक संपदा का मूल्यांकन कर रूस एवं यूरोप में ही नहीं, बल्कि समूचे विश्व में भारत को सम्मानप्रद स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वह खोजी प्रकृति के एक विद्वान रचनाकार थे। रामविलास शर्मा के अनुसार- अलेक्सेई पेत्रोविच बारान्निकोव वैज्ञानिक थे जिन्होंने कविहृदय पाया था। उन्हें भारत से अगाध प्रेम था। समाजवादी क्रांति से लेकर भारत के स्वाधीन होने और दोनों देशों में नए पैमाने पर मैत्री संबंध स्थापित होने तक उन्होंने भारतीय भाषाओं और साहित्य क्षेत्र में अनवरत परिश्रम किया। भारतीय भाषाओं में भी हिंदी से उनका विशेष संबंध था।' □

'भारती प्रसंग' : कहना यह है कि...

कवि, कथाकार, उपन्यासकार और यशस्वी पत्रिका धर्मयुग के संपादक धर्मवीर भारती पर केंद्रित अंक के बारे में हमें अनेक पत्र प्राप्त हुए। इनमें से कुछ विशेष पत्र यहां प्रकाशित किए जा रहे हैं।

मारिशस-भारत के बीच अटूट सेतु

'भारती प्रसंग' देखने पर प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ लिखने का मन हो आया। भारती जी के व्यक्तित्व, कृतित्व और इससे भी अधिक मानव सुलभ गुणों के संदर्भ को रेखांकित करने के लिए आपके प्रकाशन, संयोजन का यदि मुझे पहले से पता रहा होता तो मैं अवश्य एक लेख भेजने की कोशिश करता। मैं विश्वास के साथ कहता हूं कि मेरा वह लेख मिथिलेश्वर के लेख से बहुत बातों में मेल खाता। अंतर इतना होता कि मैं भारती जी से मिलने और उनकी अंतरंगता और आशीर्वाद प्राप्त करने का जिक्र करता। भारती जी दो बार मारिशस आए थे और मुझसे संपर्क करना वह नहीं भूले। पहली बार तो वह मारिशस के भ्रमण पर निकलने के समय बिना किसी सूचना के मेरे गांव आ गए थे। भारती जी तब मेरे लिए कद-काठी से बहुत हद तक अपरिचित थे। उनकी एक-दो तस्वीरें देखी थीं, बस यही। ऐसे में सामने उपस्थित भारती जी को पहचान पाना मेरे लिए कठिन हो गया था। भारती जी ने तब स्वयं अपना परिचय देना शुरू कर दिया था। मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही थी, परिणामत: मैं भौंचक्का उन्हें देखता रह गया था। मैंने भारती जी के चरण स्पर्श के लिए जब हाथ आगे बढ़ाए, तो उन्होंने मुझे रोककर कहा था कि लेखक को मेरे कद के बराबर खड़ा होना चाहिए।

धर्मयुग में तब मेरी मात्र दो कहानियां प्रकाशित हुई थीं। *धर्मयुग* के स्तर को देखते हुए दोनों बार कहानियां भेजते हुए बहुत संकोच हुआ था और कहानियां प्रकाशित होने का स्वीकृति पत्र प्राप्त होने पर आश्चर्य ही अधिक हुआ था। मैं जानता था, भारती जी ने रियायत की थी, लेकिन रियायत की, तो दो कारणों से। एक, उन्होंने मेरी कहानियों में संभावना देखी हो और दूसरा, उन्होंने मारिशस में हिंदी साहित्य के विकास और समृद्धि के लिए आवश्यक माना हो कि *धर्मयुग* के माध्यम से अपनी ओर से कुछ करें। वैसे, मैंने पहली कहानी इस आशा से कदापि उन्हें प्रेषित नहीं की थी कि कहानी छप ही जाएगी। मैंने कहानी हल्के दाम का टिकट लगाकर पानी के जहाज द्वारा भेजी थी, जिसका उत्तर मुझे चार-पांच महीने बाद प्राप्त हुआ था। उन दिनों मारिशस और भारत को जोड़ने के लिए समुद्री जहाज का डेढ़ महीने से भी अधिक समय लगता था।

भारती जी दोनों बार सरकारी मेहमान के रूप में मारिशस आए थे। आम तौर पर माना जाता है कि सरकारी टिकट पर विदेश की यात्रा कर रहे हों तो राजनीति के उसी ढर्रे पर चलें जो पालतू मेमने की तरह वफादारी के अतिरिक्त अपने लिए और कोई विकल्प जानता ही न हो। भारती जी को यहां राजनीति की उस जी-हजूरी से ऊपर देखा गया था। भारती जी के सम्मान में एक सांस्कृतिक आयोजन हुआ था। बेवक्त मंत्रियों की आवभगत का रोग पाले बैठे हुए लोगों को उस सांस्कृतिक मौके पर भी आवश्यक लगा था कि देश के एक वरिष्ठ मंत्री को आमंत्रित किया जाए। मंत्री ने कार्यक्रम के अंतर्गत जब देखा कि भारती जी को फूलों की मालाएं उसकी अपेक्षा अधिक प्राप्त हुईं तो उसे यह अपना अपमान लगा। अपनी भड़ास निकालने के लिए उसने हिंदी और भारतीयता के संदर्भ में भी बहुत रूखी

बुरा न मानें, तो...

आजकल का अंक मिला। धन्यवाद। कुछ तो उम्र का प्रभाव और कुछ यों भी अपनी भूल जाने की आदत के कारण मुझे कतई याद नहीं आ रहा कि मुझे इसके पहले आपकी ओर से कोई पत्र मिला था- मिला होता तो निश्चित ही मैं आपको कुछ-न-कुछ सहयोग अवश्य देती। यह जरूर याद आता है कि एक तार मिला था जिसमें लिखा था- 'लेख और चित्रों की प्रतीक्षा है' तथा नीचे मात्र इतना लिखा था- 'संपादक दिल्ली'। अब दिल्ली से तो इतनी पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं कि मुझे कुछ अंदाज ही नहीं हुआ कि किस संपादक ने यह तार दिया होगा- पत्रिका का नाम या आपका नाम लिखा होता तो मैं समझ जाती- पर खैर, मेरा दुर्भाग्य ही था कि मैं अपना कुछ सहयोग न दे पाई। वरना शायद कुछ ऐसा दे पाती जो आपके आयोजन को चार चांद लगा देता- मेरा आशय भारती जी की डायरी के पृष्ठों से है- मैं आपको डायरी के कुछ पृष्ठ दे सकती थी।

पर आपने बहुत अच्छा अंक निकाला है- लेखों का ऐसा कुशल संयोजन किया है कि इस एक अंक से ही भारती जी के व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही पक्षों की खासी जानकारी मिल जाती है- आपकी संपादकीय दृष्टि को प्रणाम।

वैसे-अगर बुरा न मानें तो एक बात कहूं! आपने अगर एक पत्र भेजा था और मेरी प्रतिक्रिया नहीं मिली थी तो यह सोचकर कि शायद डाक की गड़बड़ी से पत्र न पहुंचा हो- एक पत्र और भेज देते- *अक्षर-अक्षर यश* नाम से भारती जी के पत्रों का एक संकलन छप चुका है, उसे पढ़कर आप जानेंगे कि भारती जी किस तरह अपने लेखकों से अपनी मनचाही योजना के तहत काम करा ही लेते थे। यह जरूर है कि बहुत श्रम करना पड़ता था उन्हें- यह भी हो सकता है कि आप भी वैसा ही करते होंगे- पर मुझे इस योग्य न समझा होगा कि उतना श्रम जाया किया जाए- दुर्भाग्य अपना ही मानती हूं। साथ ही इतना अच्छा अंक निकालने के लिए बधाई देती हूं।

-पुष्पा भारती, मुंबई

बातें कहीं। भारती जी को जब बोलने का अवसर मिला तो उन्होंने सीधे मंत्री महोदय को आड़े हाथों लिया। उन्होंने कहा कि मारिशस से अधिक परिचित न होने के बावजूद वह इतना कहने का दम रखते हैं कि यहां हिंदी-प्रेम और भारतीय संस्कार की जड़ें गहरी हैं। उन्होंने अपने वक्तव्य के अंत में उक्त मंत्री से अनुरोध किया था कि वह यदि अपना नजरिया बदलने की सोचें तो इस देश के लिए वह निकट भविष्य में एक उपलब्धि प्रमाणित हो सकता है। भारती जी ने एक मंत्री से अपना नजरिया बदलने का अनुरोध किया और इस बात का विस्तार यह है कि जाने-अनजाने यह पूरे देश के अपने भारतीय संस्कार के बीच जन्म लेकर राजनेता के रूप में प्रतिष्ठित होने वाले समस्त राजनेताओं पर लागू होने वाली बात थी। कालांतर में रोने वाली बात यही रही कि भारती जी के उस सपने को साकारता नहीं मिली। भारती जी ने मुझे जब भी कहानियों की स्वीकृति-अस्वीकृति के संदर्भ में पत्र लिखा, मारिशस में सांस्कृतिक विघटन के प्रति अपनी चिंता प्रकट करते हुए कहा कि वहां सब कुछ एक युद्ध-सा हो चला है, जिसे गहरी समझदारी और सांस्कृतिक निष्ठा से लोगों को लड़ना होगा। भारती जी हृदय से चाहते थे कि मारिशस में हिंदी साहित्य की एक लंबी परंपरा बन सके। *धर्मयुग* के प्रकाशन काल में जब तक वह संपादक के रूप में कार्यरत रहे, उन्होंने मारिशस को बहुत करीब से जाना। परंतु दुर्भाग्य कि *धर्मयुग* का कालांतर में प्रकाशन बंद हो गया। *धर्मयुग* से गहरे जुड़े रहने की साहित्यिक निष्ठा के दम पर मैं कह सकता हूं कि मारिशस की हिंदी भारत में निरंतर प्रवेश पाते रहने की संभावना से वंचित हो गई। दोनों देशों के सांस्कृतिक और साहित्यिक रिश्तों को समझने के लिए फिलहाल मुझे दूसरे धर्मवीर दृष्टिगत नहीं होते।

मैंने किसी से सुना था कि धर्मवीर भारती राजस्थान की रेतीली जमीन और मारिशस को अपने जेहन का हिस्सा मानते थे। मारिशस का नाम कोई राजनेता ले तो राजनीति परिवर्तित होने पर भाषा बदल भी सकती है, लेकिन समर्पित रचनाकार की भाषा खेल-खेल में अपना वजन नहीं खोती। मार्क ट्वेन ने कहा था कि ईश्वर ने पहले मारिशस बनाया, फिर इसकी नकल में स्वर्ग का निर्माण किया। यह भाषा राजनीति की फिसलती भाषा से बहुत ऊपर है, तभी तो यहां मन-मन में इसकी छाप अमिट है। निस्संदेह, मेरे और मेरे देश के हिंदी जगत के लिए भारती जी का प्रेम भी हमेशा अक्षुण्ण रहेगा।

-रामदेव धुरंधर, मारिशस

उदारचरित

'भारती प्रसंग' से सज्जित अंक बहुत पसंद आया और स्मृति-पटल पर उस सहृदय संपादक की ढेरों स्मृतियां उभर आईं। धर्मवीर भारती के *धर्मयुग* संपादन- काल में मेरी लगभग डेढ़ सौ छोटी-बड़ी रचनाएं (अधिकतर सचित्र) प्रकाशित हुईं। दर्जनों रचनाओं को 'विशेष' का दर्जा देकर मेरी ही ली हुई रंगीन पारदर्शियों के साथ मुखपृष्ठ पर उन्होंने प्रकाशित किया। तब एक लेखक-छायाकार के रूप में प्रतिष्ठित होने की कोशिश में यह कतई विश्वास नहीं था कि एक साधारण कैमरे से ली गई मेरी रंगीन पारदर्शियों का उपयोग *धर्मयुग* जैसी हिंदी की उच्च स्तरीय साप्ताहिक पत्रिका के मुखपृष्ठ पर भी हो सकता है। कालक्रम से वह दिन भी आया जब मेरी रचना के साथ उनकी यह टिप्पणी भी प्रकाशित रहती- *'धर्मयुग* के सुपरिचित छायाकार-लेखक की यह विशेष रचना...।'

जब कभी बिहार या देश से संबंधित ज्वलंत समस्याओं पर विद्वान साहित्यकारों की फोटो-विहीन कोई रचना उन्हें पसंद आ जाती, तब विषय लिखकर तत्संबंधी फोटो भेजने का अनुरोध-पत्र वह स्वयं मुझे लिखते या अपने सह-संपादकों- गणेश मंत्री, प्रमोदशंकर भट्ट, मनमोहन सरल, कन्हैयालाल नंदन, प्रेम कपूर आदि से भिजवा देते। मैंने कभी उन्हें निराश नहीं किया।

पटना में जब भयंकर बाढ़ आई थी और इस शहर के पास इलाके में नावें चल रही थीं, तब पटना के तत्कालीन जिलाधीश से फोन पर संपर्क करके भारतीय वायुसेना के हेलिकाप्टर से बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों के रंगीन फोटो लेने की सुविधा उन्होंने मुझे दिलवाई थी। कई बार उड़कर फोटो लेने तथा फूड-पैकेट गिराते समय का आंखों देखा विवरण उन्होंने विशिष्ट रचना के रूप में मुखपृष्ठ सहित 31 जुलाई, 1977 ई. के *धर्मयुग* में किया था।

धर्मयुग जैसी पत्रिका के 'बाल जगत' पृष्ठ पर मुझ जैसे अदना लेखक की कभी 12 से 20 किश्तों में 'भारतीय सर्कस का अनोखा संसार', 'रोटी की कहानी' और 'आजादी की पहरेदारी में' आदि धारावाहिक सचित्र लेखमाला भी प्रकाशित होंगी, यह कतई विश्वास नहीं था, पर यह सच हुआ। मिथिलेश्वर ने अपने संस्मरण में ठीक ही लिखा है- 'भारती जी को रचना प्यारी थी, रचनाकार नहीं।'... वास्तव में अच्छी रचनाएं प्रकाशित होने के लिए संपादक और पुस्तक-प्रकाशक के हाथ बांध देती है।

भारती जी के प्रारंभिक संपादन-काल में 'विचित्र वार्ता' स्तंभ से मैंने *धर्मयुग* में लिखना शुरू किया था। दर्जनों रचनाएं छपीं। फिर शुरू हुआ 'विनोद विलास' स्तंभ। इस स्तंभ के लिए *धर्मयुग* का पत्र मिला- 'पटना की टमटमबाजी से संबंधित ढाई हजार शब्दों की सचित्र सामग्री चाहिए।'

यहां याद आता है से. रा. यात्री का यह कथन कि, 'लेखकों के लिए भारती जी का रचना भेजने का आमंत्रण एक नींद उड़ा देने वाली चुनौती के समान होता था। कोई भी रचनाकार *धर्मयुग* को मामूली या चलंतू रचना भेजने के बारे में सोच नहीं सकता था...।'

टमटमबाजी वाली रचना उन्हें पसंद आई और वह 7 जुलाई 68 के *धर्मयुग* में प्रकाशित हुई। फिर तो उस स्तंभ के लिए कभी पटना की पहलवानी, पटना की कबूतरबाजी, तीतरबाजी, बुलबुलबाजी, पतंगबाजी आदि पर लिखने के लिए पत्र आने लगे। ये सभी रचनाएं प्रकाशित हुईं और यहीं से अपने शहर में *'धर्मयुग* के लेखक' के रूप में मेरी पहचान बनने लगी। *नवनीत, कादंबिनी, ज्ञानोदय, सरिता, मुक्ता, मनोरमा, मनमोहन, बाल भारती, योजना साप्ताहिक हिंदुस्तान, हिंदुस्तान, नवभारत टाइम्स, दिनमान, आज, आर्यावर्त* आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मेरी कई सौ रचनाएं *धर्मयुग* के समक्ष गौण हो गईं।

सन् 1971 ई. में सतीश कुमार (पैदल विश्वभ्रमण करने वाले यात्री) ने *धर्मयुग* को एक ऐसी रचना भेजी, जो भारती जी को बहुत पंसद थी। किंतु उस विशेष रचना के साथ एक भी फोटो नहीं था। सचित्र साप्ताहिक के लिए फोटो का अपना महत्व होता है। भारती जी ने मुझसे अनुरोध किया। उनका अनुरोध टाल भी कैसे सकता था? अतः लोगों के मना करने पर भी उस अशांत नक्सली क्षेत्र 'मुसहरी' गया, जहां नक्सलियों ने कई हत्याएं की थीं और जे. पी. को धमकी दी थी कि अगर वह यहां आए, तो उनकी भी हत्या कर दी जाएगी। मुसहरी में जयप्रकाश नारायण के साथ सतीश कुमार ने कार्य किया था। दो दिन वहां रहकर नौ रंगीन एवं ढेर सारे श्वेत-श्याम फोटो लेकर पटना वापस आ गया।

तीसरे दिन भोपाल जाना था– हिजड़ों और उनकी बस्ती का फोटो एवं साक्षात्कार लेने और फिर वहां से बंडा-बेलई। हावड़ा-बंबई जनता एक्सप्रेस की एक स्लीपर बोगी में बर्थ सुरक्षित था। गहरी नींद में सोया था कि बोगी में हाय-तौबा की आवाज से नींद टूटी । मुगलसराय में लुटेरों ने कई लोगों का बक्सा गायब कर दिया था। मेरा बक्सा और बैग दोनों गायब थे। मुझे काटो तो खून नहीं। बक्से में कैमरे और मुसहरी की वह रील भी थी जिसके लिए भारती जी ने लिखा था। गाड़ी मुगलसराय से खुलकर रफ्तार पकड़ रही थी। चेन खींचकर लुटा-पिटा, मुंह लटकाए ट्रेन से उतर गया।

किसी तरह घर आने पर भारती जी को एक पोस्टकार्ड पर कैमरा चोरी हो जाने की सूचना दी। उत्तर में जयप्रकाश नारायण और उनकी पत्नी प्रभावती देवी के रंगीन फोटो के साथ सतीश कुमार के लेख में काम चला लेने की बात लिखकर उन्होंने मुझे धीरज बंधाया था।

मुजफ्फरपुर के मुसहरी में जिन लोगों के फोटो लिए थे, उन्हें इस बात की जानकारी थी कि उनके फोटो *धर्मयुग* जैसी पत्रिका में प्रकाशित होंगे। परंतु उन्हें क्या पता कि छायाकार का कैमरा और वह रील ही चोरी चली गई, जिनमें उनके फोटो थे। *धर्मयुग* की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। संकट की उस घड़ी में एक छायाकार मित्र ने अपना कैमरा दिया। फिर मुसहरी गया, उन्हीं लोगों के फोटो लिए। दूसरे दिन सारे श्वेत-श्याम फोटो हवाई डाक से भारती जी को भेज दिए। फोटो मिलते ही गद्‌गद होकर उन्होंने पत्र लिखा। वह सारी सामग्री आवरण पृष्ठ सहित 13 जून, 1971 के *धर्मयुग* में प्रकाशित हुई।

कैमरे और कई दुर्लभ कीमती लैंस चोरी हो जाने के बाद बहुत दुखी रहा करता था। लगता, मेरे शरीर का कोई अंग ही कट गया है। रुपयों की व्यवस्था कर बंबई चला गया– कैमरा खरीदने। वहां अपने समधी साहब के यहां से रात नौ बजे भारती जी के घर पर फोन किया। वह चौंके। पूछा– 'बंबई कैसे आना हुआ?' बताया तो बोले, 'कल बारह बजे दिन में मेरे कार्यालय में आ जाइए। आपकी जितनी स्वीकृत रचनाएं हैं, उनका अग्रिम पारिश्रमिक दिलवा दूंगा।'

दूसरे दिन उनके कार्यालय में उनसे मिला। भारती जी से वह मेरी पहली और अंतिम भेंट थी। उन्होंने प्रसंगवश कहा था– 'अच्छा लिखते हैं आप और विषय भी ऐसा कि जल्दी किसी की नजर नहीं जाती। हां, 5 जुलाई 70 के *धर्मयुग* के मुख्यपृष्ठ सहित प्रकाशित रचना 'बोल बम' के साथ रंगीन पारदर्शियां बहुत कम थीं। मैं और छापना चाह रहा था...।'

मैंने उन्हें बताया– 'उस 120 साइज की एक फिल्म पर दो रचनाओं के लिए 6-6 फोटो लेने का इरादा था; क्योंकि जब मेरे पास पैसा रहता है तब पटना के बाजारों में रंगीन फिल्म नहीं मिलती और जब फिल्म रहती है, तब मेरे पास पैसा नहीं रहता।' उन्होंने पूछा– 'लिखने के अतिरिक्त क्या करते हैं आप?' मैंने बताया– 'आल इंडिया रेडियो, पटना में लोअर डिवीजन क्लर्क हूं।' आश्चर्यचकित वह मेरा मुंह देखने लगे।

लगभग दस मिनट उनसे मेरी बातचीत हुई होगी कि लेखा विभाग से एक आदमी मुझे खोजने आया। भारती जी ने कहा– 'जाइए, इनके साथ। अपना अग्रिम पारिश्रमिक ले लीजिए। और हां, कैमरा खरीदने की सूचना पत्र द्वारा अवश्य दीजिएगा।' ...पटना जाने पर उनके सहयोग के लिए धन्यवाद का एक पत्र भेजना नहीं भूला।

लगभग छः माह के बाद मैंने अनुभव किया कि अब मुझे मेरी रचनाओं और रंगीन पारदर्शियों के प्रकाशन के बाद *धर्मयुग* से दुगुना पारिश्रमिक मिल रहा है। फिल्म की समस्या का समाधान भी उन्होंने कर दिया था। जिस विषय पर लिखना होता, उसका प्रस्ताव उन्हें भेज देता। पसंद आने पर अपने कला-निदेशक रमेश संझगिरी से दो फिल्म भिजवा देते और पारिश्रमिक पूर्ववत दिलवाते।

दीपावली के अवसर पर वह अपने लेखकों को सुंदर-सुंदर उपहार भेजते। एक बार अत्यंत कलात्मक *धर्मयुग* छपा सुनहला पेन स्टैंड भेजा था उन्होंने। एक कवि, कथाकार, उपन्यासकार और सहृदय संपादक के रूप में मुझ जैसे कई लेखकों के हृदय में वह श्रद्धा रूप में अंकित रहेंगे। एक अधिकारी के रूप में सरकारी सेवा से निवृत्त हुए आठ वर्ष बीत गए। जब कभी भारती जी की याद आती है, मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है।

–सत्यदेवनारायण सिन्हा, पटना

एक टीस

हिंदी के समग्र संदर्भ में एक खलिश जगा गया, वेदना और टीस दे गया यह विशेषांक। धर्मवीर भारती के जीवन-संदर्भों को बहुत अच्छे ढंग से व्याख्यायित करती सामग्री संकलित है। भारती न केवल लेखकों के लिए, बल्कि *धर्मयुग* के पाठकों के लिए भी बहुत स्पृहणीय हो गए थे। लगता था कि इतनी अच्छी, सुसंपादित, बहुआयामी पत्रिका का प्रकाशन हिंदी के लिए गौरव की बात है और पाठकों के लिए संस्कार, चेतना, युगधर्म, दायित्व बोध जगाने का उपक्रम भी। वह संस्था थी, पत्रिका भर नहीं। अचरज तो यह है कि इतनी पुष्कल प्रगति वाली दशाओं में जीते हुए भी हिंदी जगत, एक भी वैसी पत्रिका नहीं पा रहा जैसी कि *धर्मयुग* थी। उनकी साहित्यकता, उनकी भारतीयता, उनकी समर्पणशील निष्ठा उनकी कृतियों से भी कहीं बढ़कर थी। *कनुप्रिया, अंधायुग, गुनाहों का देवता, सूरज का सातवां घोड़ा* जैसी कृतियां वह दे पाए, पत्रकारिता को अपनी समृद्ध चित्रात्मक भाषा संपदा की सौगात दे गए और हिंदी भाषा को मान कि उसके पास *धर्मयुग* जैसी पत्रिका है। उनके एक स्तंभ की याद आती है जिसमें उन्होंने अज्ञेय जी को मानद डाक्टरेट मिलने पर मीठा उलाहना दिया था : 'हुए अज्ञेय जी डाक्टर, बधाई है, बधाई है!' पहले के साहित्यिक विवाद मिठास भरे होते थे, आज के कुलिश-पवि-गाज सिर पर दे मारने वाले : अब क्या कुबेरनाथ राय-से ललित निबंध लेखक और भारती-से साहित्यिक संपादक हिंदी में नहीं हो पाएंगे?

–प्रद्युम्न जड़िया, रीवा

वे भी क्या दिन थे!

अंक भारती जी की स्मृति को समर्पित करके तथा भारती से संबंधित अनेक विशिष्ट रचनाओं को प्रकाशित करके धर्मवीर भारती और उस दौर के *धर्मयुग* की याद दिलाकर आपने मन छटपटाहट से भर दिया। आज अंग्रेजी के बढ़ते दुष्प्रभाव व अधिकांश पाठकों की अच्छे साहित्य व पत्र-पत्रिकाओं में घटती रुचि को देखकर मन में दुख तो बहुत होता है और उस दौर की *धर्मयुग* जैसी पत्रिका व उसके पाठकों को देखकर मन में एक टीस-सी उठती है कि वे भी क्या सुनहरे दिन थे जब प्रति सप्ताह *धर्मयुग* के एक नए रूप को देखने की प्रतीक्षा रहती थी। हालांकि तब मैं बचपन और यौवन की दहलीज पर था परंतु फिर भी कुछ रचनाएं, विशेषकर मुख्य आलेख को पढ़ने का प्रयास मेरा जरूर होता। पत्रिका *साप्ताहिक हिंदुस्तान* ने भी यद्यपि अपनी विशिष्ट पहचान बनाई परंतु *धर्मयुग* की अपनी ही कुछ विशिष्टताएं थीं।

उस दौर की कुछ विशिष्ट पत्रिकाओं का बंद हो जाना मन को खलता रहता है।

धर्मवीर भारती की स्मृतियों से जुड़ा से.रा. यात्री जी का आलेख 'सारस्वत साधना की अनुगूंज' सराहनीय आलेख था। धर्मवीर भारती व *धर्मयुग* की स्मृतियों को व्यक्त करती अन्य रचनाएं भी अच्छी रहीं।

-दिलीप कुमार, मंडी

सहयोगी

डा.धर्मवीर भारती पर केंद्रित अंक अति प्रीतिकर लगा। भारती जी के व्यक्तित्व से संबंधित अनछुए प्रसंग सुधी पाठकों को पढ़ने को मिले।

सचमुच भारती जी साहित्य में कुछ कर गुजरने वालों को जगाने का काम करते थे। मुझसे संबंधित एक घटना का जिक्र करना मुनासिब समझता हूं। जब मैं 'डा. राही मासूम रजा की औपन्यासिक यात्रा' पर कुछ वर्ष पूर्व शोध कर रहा था तो मैंने भी उनसे जानकारी प्राप्त करने हेतु एक पत्र लिखा था। पत्र लिखने का कारण यह था कि राही साहब ने अपने *यादों के दायरे* में लिखा है कि बंबई प्रवास के दरम्यान मेरे दुर्दिन में तीन लोगों ने मेरी मदद की थी- धर्मवीर भारती, कमलेश्वर तथा कृश्न चंदर।

भारती जी ने अपने हाथ से मुझे स्वयं पत्र लिखा था और मुझे सुझाव दिया था कि 'वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली से मेरी एक पुस्तक आ रही है- *कुछ चेहरे : कुछ चिंतन*, उसमें डा. राही मासूम रजा पर भी मेरा एक लेख है, जो कभी *धर्मयुग* में छपा था। पुस्तक मंगा लीजिए। हो सकता है, उसमें के कुछ तथ्य आपके काम आ जाएं।' उनका पत्र आज भी मेरी थीसिस में चस्पां है।

पत्र पाकर मैं अति प्रसन्न हुआ था। दो वर्ष पूर्व उनकी अंतिम कृति *सपना अभी भी* काव्यकृति पढ़कर उन्हें एक पत्र लिखा था, जिसमें मारीशस के 'सोनारू' से संबद्ध एक कविता थी, जो विशेष मन भाई। विश्वास है, मेरा पत्र उन्हें अवश्य जंचा होगा। साहित्य के ऐसे अमर पुरोधा को शत्-शत् बार प्रणाम।

-वेद प्रकाश पांडेय, वाराणसी

पाठकों को भी...

अंक पढ़ते हुए ऐसा लगा जैसे लंबे विछोह के बाद किसी अपने से मुलाकात हुई। भारती जी सबके प्यारे थे। जो *धर्मयुग* में छपते थे उनके तो थे ही, *धर्मयुग* के विशुद्ध पाठकों से भी उनका उतना ही स्नेह था। ऐसा लगता है कि *आजकल* का भारती पर केंद्रित अंक निकालने का आपने या तो बेहद हड़बड़ी में फैसला किया अथवा काफी गोपनीय ढंग से। नहीं तो इसमें निश्चित रूप से *धर्मयुग* के पाठकों को भारती कैसे लगते थे- उनके संस्मरण जरूर आते। देश की एक पूरी पीढ़ी *धर्मयुग* को पढ़ते हुए बड़ी हुई और आज किसी-न-किसी रूप में रचनाधर्मिता से जुड़ी हुई है। शायद आपको आश्चर्य हो, *धर्मयुग* के अनेक पाठकों के पास भारती जी से जुड़े संस्मरण हैं जो इस अंक के लिए बहुमूल्य और सर्वथा नए हो सकते थे क्योंकि भारती जी ने अपना समय न केवल लेखकों, साहित्यकारों को बांटा है अपितु *धर्मयुग* के 'सिर्फ पाठकों' से भी मिलकर वह उतना ही सहज और आत्मीय रहते थे। मैं स्वयं भी उनके कलानगर (बांद्रा) स्थित साहित्य सहवास में जाकर 20 जुलाई 95 को पूरे तीन घंटे उनके साथ बैठकर उन्हीं की कविता उन्हें सुनाकर, उनके मन के कई कोने झांककर आया हूं। उस दिन मैंने पहली बार महसूस किया था कि कोई महान व्यक्ति इतना भी सहज हो सकता है। तब मुझे जरा भी अनुमान नहीं था कि वह जल्दी ही मुझे (हम सबको) छोड़ जाने वाले हैं। बहरहाल, अच्छा अंक निकालने के बहाने भारती जी को एक बार पुनः प्रत्यक्ष कर देने की बधाई। यात्री जी का संस्मरण बहुमूल्य है। भारती जी की कविताएं कुछ और दी जानी चाहिए थीं।

-उमाकांत भारत, अंबिकापुर

एक पूर्ण अंक

धर्मवीर भारती पर इतनी सामग्री मुझे पहली बार एक साथ मिली। भारती जी ने बहुत लिखा है, बहुतों को लिखना सिखाया है। *कनुप्रिया, गुनाहों का देवता*, प्रेम गीत और प्रेम पर आधारित उपन्यास है, वहीं *अंधायुग* में तीखापन- शायद ही ऐसा काव्य-नाटक लिखा गया हो। प्रहरी ही क्यों न हो, संवादों का तारतम्य टूटता नहीं; न ही कहीं काव्य सौष्ठव में कमी आती है। युवा तो *गुनाहों का देवता* को इतना पसंद करते हैं कि एक बैठक में पूरा पढ़े बिना नहीं मानते। *कनुप्रिया* मुक्त छंद में एक ऐसा खंडकाव्य है जो कविता की नई धारा के कई द्वार खोलता है।

से. रा. यात्री ने भारती जी की जीवनी को संस्मरणात्मक लिखकर रोचक बनाया है। अजित कुमार का सिंहावलोकन, विनय जी की बातचीत से भारती जी के विषय में जानकारी मिलती है, वहीं देवेंद्र शर्मा इंद्र जी की पड़ताल से अंक पूर्ण हो जाता है। धर्मवीर भारती जी की कविताएं वही प्रकाशित हैं जो चर्चित रही हैं।

-वीरेंद सारंग, लखनऊ

मुकम्मल अंक

भारती जी को संदर्भित करने वाला यह एक मुकम्मल अंक है। ऐसे ही अंक संजोकर रखे जाते हैं। निश्चय ही पुष्पा भारती जी जैसी आंखों से इस अंक का अवलोकन किया जाए तो स्व. भारती के सारे यथार्थ साफ नजर आएंगे। यह दिखा भी है कि सही मायने में सच्चा साहित्यकार अपनी साहित्यिक दिशा अपने अनुसार रच ही लेता है, वह किसी के दबाववश बहुत बदल नहीं पाता, चाहे भले ही उसे प्रगतिवादी अवमानित करें, जनवादी निष्कासित करें, अथवा आदर्शवादी अमर्यादित करें। वस्तुतः ऐसी परिस्थितियां प्रायः आती ही रहती हैं क्योंकि साहित्यकार वह दृष्टि रखता है जो वर्तमान के लिए पूर्णतः तो नहीं, पर दशकों बाद सही साबित हुआ करती है।

सचमुच आज प्रणय-प्रसंगों की नग्नतावश बिंधने वाली ऊबन में भारती जी का मर्यादित प्रणय संदर्भ-संग्रह *कनुप्रिया* बेहद सार्थक लगने लगा है। कनु के प्रति प्रिया राधन् के होठों से प्रेमवाणी परसाकर धर्मवीर भारती जिस फलक को चूम गए हैं, नहीं लगता कि शमशेर छू भी पाए हों। पसीने से लथपथ प्रिया को अंदर तक चूमने की बजाय पसीना पोंछने जैसी वासनाएं अज्ञेय सरीखे कवियों ने की हैं। हां, निस्संदेह इस मायने में स्व. केदारनाथ अग्रवाल विशेष माने जाने चाहिए क्योंकि प्रेम के यथार्थ धरातल को चूमने के लिए इतर कहीं नहीं, बल्कि वह अपनी प्रिया पत्नी में ही डूबे हैं और औरों को डुबाने की कोशिशें की हैं उन्होंने।

सच कहा जाए तो इस अंक का व्यक्तित्व स्तंभ यात्री जी द्वारा प्रस्तुत व्यापक संस्मरण है, जिसे बारीकी से अवलोकने पर नहीं लगता कि भारती जी से रुष्ट भी हुआ जा सकता था- यहां तक कि 'अश्क' जैसे लोगों के लिए भी...। जहां तक साहित्यकार प्रगतिशील समाज का मौलिक कर्त्ता-धर्त्ता होता है, वहीं वह वैसी व्यक्तिगत इकाई भी होता है, जिसमें भावनात्मक

अंतर्संगुंफनों को अभिव्यक्ति देनी होती है। आखिर ऐसा कौन होगा जो साहित्यगत संवेदनशीलता रखे, पर प्रेम सरीखे मनोभावों से परिभावित न हो!

किसी निपुण साहित्यकार की नैसर्गिकता को सोलह आने चिह्नित करने वाला इतना सुस्पष्ट एक गूढ़ साक्षात्कार कभी-कभी ही देखने को मिल पाता है। भारती जी निजी अंतस के भावोल्लास के माध्यम से जीवन की व्यापकता के रेखांकन हेतु ही *कनुप्रिया* जैसा संग्रह दे सके। भारती जी की स्वस्थ अवधारणा तब और मुखरित हुई है जब वह यह कहते दिख पाए हैं कि 'महानता का निषेध अहम्मन्यता हेतु नहीं, अपितु निजत्व के नैकट्य हेतु होना चाहिए।'

इदु जैन ने 'आधुनिकता के आयाम' शीर्षक में ऋजुतर भारती जी की नैसर्गिक आधुनिकता को संजोया है, सजीव अभिव्यक्ति दी है। सही मायने में कोई कवि जब निरायास नूतनतर आयाम दे जाए, तो उसे सहर्ष सरल भाव से स्वीकार किया ही जाना चाहिए। इंदु जैन का विश्लेषण मनन योग्य है।

'कृतित्व' स्तंभ में देवेंद्र शर्मा इंद्र ने बेहद बेबाकी तो बरती है किंतु युद्ध विवेचना वाले संदर्भ में स्थूलता भी बरती है। हर कोई यह मानेगा कि स्थूलत: युद्ध को कदापि निरापद नहीं माना जा सकता। इसे एक व्यापक संबोध भी माना जा सकता है, किंतु ऐसा संबोध परस्परापेक्षी होना अनिवार्य होता है। यह आवश्यक नहीं कि देवेंद्र जी जैसे संबोधी पक्ष का प्रतिपक्ष भी सम संबोध रखता ही हो। अत: देवेंद्र जी को स्थूल आधार वाली अवधारणा का परित्यजन करना चाहिए। अत: मैं तो कहूंगा कि उक्त संदर्भ पर देवेंद्र जी पुनर्विचार करके ही कृष्ण को दोषी कहें। वैसे मैं 'इंद्र' जी की सूक्ष्मतर समीक्षा का कायल हूं।

मिथिलेश्वर एवं प्रेम कपूर जी के संस्मरण अनुतोषप्रद उतरे हैं।

-विलीन, गाजीपुर

स्मारक ग्रंथ

धर्मवीर भारती विशेषांक पढ़कर भाव-विह्वल हुए बिना रह नहीं सका। मन के सामने कौंध गया पिछले पचास वर्षों में पढ़ा और देखा हिंदी साहित्य का संसार। स्मरण हो आया भारती जी से अभिन्न रूप से संबद्ध इलाहाबाद का भी- निराला, पंत, महादेवी, बच्चन, इलाचंद्र जोशी, अश्क, जगदीश गुप्त और 'परिमल' का इलाहाबाद, जहां साहित्य के इन जीते-जागते स्वरूपों और 'फिराक' के विराट व्यक्तित्व को निकट से देखने, उस परिवेश से परिचय प्राप्त करने गया था सन् अट्ठावन में पहली बार और गंगा और संगम की अमिट छाप मन और आत्मा पर लेकर लौटा था।

भारती जी पर से.रा. यात्री का लेख, विशेष रूप से *धर्मयुग* से जुड़ी भारती जी की स्मृतियां एवं संपादक के रूप में उच्चतम मानदंडों को बनाए रखने का उनका सतत प्रयास पढ़कर बहुत अच्छा लगा। अजित कुमार का भारती जी के व्यक्तित्व का 'सिंहावलोकन' मन को छू गया। मिथिलेश्वर के संस्मरण नितांत व्यक्तिगत होते हुए भी भारती जी की संपादकीय प्रखर-दृष्टि पर मूल्यवान प्रकाश डालते हैं। इंदु जैन ने बखूबी *अंधायुग* और *कनुप्रिया* का मूल्यांकन किया है। मेरे विचार में *कनुप्रिया* की राधा का दर्द हो या भारती जी की अनगिनत अन्य कविताओं का मर्म- सभी एक प्रकार से *गुनाहों का देवता* की सुधा की पीड़ा और वेदना की विस्तार-अभिव्यक्ति मात्र हैं- वह पीड़ा जो भारती जी को शायद जीवन भर सालती रही, यथा 'क्योंकि' में। देवेंद्र शर्मा 'इंद्र' का लेख अत्यंत ज्ञानवर्द्धक है। यह बहुत अच्छा किया कि इस अंक में कविताएं भी भारती जी की ही छापीं।

कुल मिलाकर 'भारती विशेषांक' एक स्मारक ग्रंथ से कम नहीं है- अत्यंत संग्रहणीय। कवर पृष्ठ के दोनों चित्र- खासकर मदारी वाला- बहुत अच्छे लगे। इन दिनों जब अखिल भारतीय स्तर की, साहित्यिक-राजनीति से मुक्त, साहित्यिक पत्रिकाओं का अकाल-सा है, ऐसे में पहले डा. रामविलास शर्मा, फिर निर्मल वर्मा, नरेंद्र कोहली और फिर भारती जी पर क्रम से निकाले गए अंकों ने *आजकल* को अति विशिष्ट उच्च-स्तरीय साहित्यिक पत्रिका के रूप में स्थापित कर दिया है।

-राधे मोहन राय, अलवर

वापसी

पृष्ठ 21 से आगे

सोच के इस बिंदु पर आकर वह अपनी आज तक की जी हुई जिंदगी का जायजा लेने लगा। क्या किया? क्या जीया? क्या खोजता रहा? क्या पाया?...एक निरर्थकता का एहसास मन में टीसता रहा।

बाजार से लौटते हुए उसके मन में न शशि थी, न सरोज। वह सिर्फ अपने बारे में सोच रहा था कि वह कितनी झूठी और नकली, बेमानी और बेमकसद जिंदगी जीता रहा है। क्या इसलिए कि उसे शशि नहीं मिली? इससे जुड़ा सवाल यह भी कि अगर उसने सरोज की बजाय शशि के साथ ही आज तक की जिंदगी गुजारी होती, तो क्या शशि यही होती, जो आज है? और उसकी अपनी स्थिति क्या आज से बेहतर होती? उसके मन ने इसकी हामी नहीं भरी।

तो फिर वह क्या है जो एक को आत्मविश्वास और मनोहारी व्यक्तित्व प्रदान करता है और दूसरे के व्यक्तित्व को स्वत्वहीन और बेहूदा बनाता है? पैसा! किसी हद तक। प्रेम! काफी हद तक। सबसे बड़ी बात यही कि जो है उसकी सहज स्वीकृति और उसे बेहतर रूप प्रदान करने की कोशिश व्यक्ति को भरा-पूरापन बख्शती है। इन तीनों बातों में वह सिफर है।

किस बात पर वह इतरा रहा है? किस मरीचिका में वह भटक रहा है?...चल, घर लौट चल। घर!... कल भी थी, आज भी है, मन में प्यास कि शाम आएगी, कोई शहर आएगा, अपना घर आएगा।...शहर-घर आ तो गया है। पर पत्नी तो हाशिए पर पड़ी है। घर क्या करेगा? घर पर तो शशि की छाया मंडरा रही है। अब तो वह साक्षात उपस्थित है। नहीं, शशि नहीं। वह तो उसके जीवन-दायरे की एक स्पर्श-रेखा मात्र है। तन कहीं, मन कहीं- यह दो किश्तियों की सवारी छोड़नी होगी। घर को घर बनाने के लिए पत्नी को अपने जीवन-दायरे के केंद्र में लाना होगा। तभी घर मां की गोद के समान होगा।

घर तक पहुंचते-पहुंचते, उसे लग रहा था, उसके मन की सारी उथल-पुथल शांत हो चुकी है और उसे एक सही दिशा मिल गई है।

ड्योढ़ी में कदम रखते ही उसे शशि की खिलखिलाहट सुनाई दी। खिलखिलाहट की ओर बढ़ते हुए, उसने स्वयं महसूस किया कि उसके पहले एक-दो कदमों में लपक थी, लेकिन अगले कदम सुस्त पड़ते जा रहे हैं। □

पुस्तक चर्चा

महाभारत के नारी पात्र : नैतिक मूल्यों का स्वरूप

बलदेव वंशी

मूल्य, अनुशासन और अनुभव किसी भी व्यक्ति या / और समाज की प्रगति इच्छित उद्देश्य तक पहुंचने की आकांक्षा सूचित करते हैं। सभ्यता के विकास का प्रकाश जो मनुष्य जाति ने अर्जित किया है उसमें अनुभव, अनुशासन और मूल्यों का सर्वाधिक महत्व रहा है। मूल्य ही हमारे सामने हमारे व्यवहार और चरित्र को रूपाकार देते हैं। ये ऐसी नैतिक बाध्यताएं प्रस्तुत करते हैं, जो यह निर्धारित करती हैं कि हमें किन परिस्थितियों में कैसे आचरण करना चाहिए। मूल्य किसी भी जाति की विशिष्टता का कूट होते हैं।

महाभारत कालीन नारी पात्रों के जीवन पर आधारित उपन्यासों की शृंखला* लिखते हुए लेखक ने सामाजिक मूल्यों एवं नैतिक मूल्यों को भी रचनात्मक स्तरों पर चित्रित किया है। अनेक अन्य नारी पात्र भी और पुरुष समाज भी उन मूल्यों की स्थापना और सतत निर्वहन में योग देता आया है। इन मूल्यों में विशेष महत्व होता है नैतिक मूल्यों का, जो युगानुरूप बदलते और समाज को गति देते रहते हैं। पुरुष समाज ने यौन-शुचिता का ऐसा मूल्य निर्धारित कर रखा है नारी के लिए, जिसे अमोघ अस्त्र की भांति प्रयोग किया जाता है। त्रेतायुग से, द्वापर युग और कलियुग तक यानी आज तक इस मूल्य ने पुरुष की अपेक्षा मात्र नारी को बुरी तरह जकड़ रखा है। आर्थिक स्वतंत्रता अर्जित करके भी नारी आज भी इस बेड़ी को नहीं काट पाई।

एक ओर नारी की पूजा का घोषित संकल्प आदर्श है तो दूसरी ओर उसकी घोर अवमानना होती देखी जाती है। महाभारत की इन मुख्य नारियों के जीवन की साक्षी ही बड़ी लज्जाजनक घोर-विषम स्थितियों को सामने ले आती है। पांचाली को कौरवों की भरी सभा में, पूज्य महापुरुषों की उपस्थिति में दुःशासन द्वारा एकवसना (रजस्वला) होने पर भी केश पकड़कर खींचते-घसीटते हुए ले आने का वृत्तांत है जो सामाजिक मूल्यों के ह्रास के चरम को दिखाता है। लेखक ने इस शृंखला में छह उपन्यास दिए हैं– *सत्यवती, गांधारी, कुंती, देवकी, रुक्मिणी, पांचाली* हैं। वैसे तो कई लेखकों ने महाभारत की कथा को अपने-अपने ढंग से लिखा है किंतु प्रस्तुत शृंखला के लेखक सुशील कुमार ने महाभारत के मुख्य नारी पात्रों के माध्यम से इन उपन्यासों की रचना करने का दावा किया है।

इस शृंखला का पहला उपन्यास *सत्यवती* है। पुस्तक में सत्यवती की भूमिका मात्र उतनी ही है, जितनी कथा के अनुसार उसे आगे बढ़ाने के लिए होनी चाहिए थी, परंतु प्रमुख भूमिका एवं कथा-विस्तार भीष्म के चरित्र को लेकर है। भीष्म का चरित्र ही अधिक उजागर हुआ है। अतः पूरे उपन्यास में या उपन्यास की पूर्णता में भीष्म ही मुख्य पात्र या नायक बनकर उभरे हैं। सत्यवती मात्र एक पात्र के रूप में है। सत्यवती एक दाशकन्या, जब कुरुवंश की कुलवधू बन जाती है और वह भी युवराज देवव्रत (भीष्म) की प्रतिज्ञा के बाद, तब इन स्थितियों में उसकी मानसिकता, मनःस्थितियों पर क्या प्रभाव पड़ा– इसका चित्रण करने की अपेक्षा यहां पर थी, और सत्यवती के मानवी पक्ष का विस्तार भी इससे होता, यहां इसकी पूरी गुंजाइश थी, लेखक ने इसका भी लाभ नहीं उठाया। इस पक्ष को नहीं रचा। तो भी सत्यवती का चरित्र पर्याप्त जीवंत और प्रभावी बन पड़ा है। महाभारत की पृष्ठभूमि में ही सत्यवती रही है। महाभारत संग्राम के आरंभ से पूर्व ही वह उपस्थित थी और संग्राम-पूर्व ही भावी युद्ध की भविष्यवाणी सुनकर विरक्त होकर अपनी दोनों पुत्रवधुओं – अंबिका और अंबालिका के साथ तपोवन चली गई। महाभारत के महासंग्राम की नींव, वैसे देखा जाए तो, सत्यवती ही सिद्ध होती है।

इसी उपन्यास में 'स्वयंवर' की प्रथा पर लेखक ने विस्तार से प्रकाश डाला है। स्वयंवर की प्रथा वैदिक आर्यों में प्रचलित थी। आर्यों के समाज में कन्या पूरी तरह स्वतंत्र मानी जाती थी तथा उसी के अनुरूप स्वयंवर की प्रथा को स्वीकार कर लिया गया था। त्रेता में मिथिला के राजा जनक द्वारा सीता-स्वयंवर बड़ा विख्यात है ही, द्वापर में भी यह प्रथा प्रचलित थी, किंतु द्वापर तक आते-आते इस प्रथा के साथ बहुत-सी अन्य बुराइयां भी जुड़ती गईं।

दूसरा उपन्यास है *गांधारी*। सत्यवती के बाद महारानी गांधारी महत्वपूर्ण नारी पात्र है। वह गांधार नरेश की पुत्री और गांधार के राजकुमार शकुनि की बड़ी बहन है। कुरुकुल के जन्मांध ज्येष्ठ कुमार की पत्नी बनेगी– यह समाचार सुनकर उसने अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली और अपने पति का अनुसरण करने का संकल्प कर लिया। गांधारी के चारित्रिक गुणों– उदारता, सदाचार, शालीनता और न्यायप्रियता के साथ ही मानवोचित दुर्बलता भी सहज लक्ष्य की जा सकती है। धृतराष्ट्र पुत्रमोह में अंधत्व तक ग्रसित होकर चाहते हैं कि दुर्योधन राज्य का अधिकारी बने, किंतु गांधारी यह चाहते हुए भी न्याय की सीमा नहीं लांघती। एक तरफ कुंती के पुत्र होने के समाचार पर वह अपने गर्भ पर पत्थर से प्रहार करके उसे नष्ट करती है, क्योंकि अब उसकी संतान कनिष्ठ होने से राज्य से वंचित होगी; तो दूसरी ओर वह दुर्योधन को, अट्ठारह दिनों के महासंग्राम में प्रतिदिन विजय का आशीर्वाद प्राप्त करने की मंशा लेकर आने पर भी विजय का आशीर्वाद नहीं देती बल्कि हर बार यही कहती है– 'जहां धर्म है, न्याय है– वहीं विजय होगी।'

लेखक ने गांधारी के चरित्र को बड़े मनोयोग से रचा है। एक तपस्विनी से कम नहीं है उसका जीवन। उसके जीवन में एक अति भी दीखती है। उसके गर्भ से प्राप्त हुआ एक कठोर मांसपिंड कहीं-न-कहीं गांधारी के चरम संकल्पी चरित्र की कठोरता को ही प्रतीक रूप में व्यक्त करता है। लेखक द्वारा विस्तृत

---

* **महाभारत के नारी पात्र (छह खंड) –सत्यवती, गांधारी, कुंती, देवकी, रुक्मिणी, पांचाली : सुशील कुमार; सामयिक प्रकाशन, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली–2; मूल्य : प्रत्येक खंड–250 रुपये।**

वर्णन ऐसी शैलीगत सूक्ष्मता लिए है जो समूची प्रक्रिया को मूर्त करती चलती है, जो आद्यंत बांधती है। वैसे इस उपन्यास में भी गांधार राज्य की सीमागत स्थिति, भौगोलिक वर्णन, राजनीतिक स्थिति आदि का वर्णन तथा अन्य विवरण रचना की पूर्णता को देखते हुए जरूरी लगते हैं, किंतु केवल गांधारी तक सीमित शीर्षक पूर्णत: उपयुक्त नहीं लगता।

तीसरा उपन्यास है *कुंती*। कुंती मथुरा के प्रतापी राजा शूरसेन की पुत्री थी किंतु उसका पालन-पोषण शूरसेन के नि:संतान फुफेरे भाई कुंतीभोज द्वारा गोद लेकर किया गया, इसलिए उसका नाम कुंती पड़ा अन्यथा उसका मूल नाम पृथा था। उसका विवाह स्वयंवर द्वारा हस्तिनापुर के राजा पांडु से हुआ। इन्हें धृतराष्ट्र के जन्मांध होने के कारण कनिष्ठ होते हुए भी कुरुकुल का राज्य प्राप्त हुआ था। पांडु राजा होते हुए भी धृतराष्ट्र पर राज्य का कार्यभार सौंपकर शत्रुओं के साथ युद्धों में व्यस्त रहे। बाद में कुंती और माद्री के साथ विहार करने के लिए हिमालय की सुरम्य वादियों में चले गए। कुंती दो बड़े कुलों की राजदुहिता होते हुए जीवन के प्रारंभिक कुछ वर्षों का सुखपूर्वक उपभोग कर पाई। शेष जीवन तो घोर यातनाओं को सहने में बीता।

कुंती जब अपने पालक पिता कुंतीभोज के यहां रह रही थी, तभी उसे प्रसन्न होकर ऋषि दुर्वासा ने वरदान दिया और एक मंत्र भी दिया जिसके जाप से वह किसी भी देवता का आवाहन करके पुत्र पा सकती है। कुंती ने यों ही जिज्ञासावश सूर्य देवता का आवाहन किया तो उसे कन्यावस्था में ही पुत्र प्राप्त हुआ, जो महाधनुर्धर कर्ण के नाम से विख्यात हुआ।

कुंती ने पांडु के आग्रह पर मंत्र बल से देवताओं का आवाहन करके तीन पुत्र- युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन प्राप्त किए। पांडवों के तेरह वर्ष के वनवास-काल में विदुर के पास रहती हुई कितनी पीड़ा और वेदना वह सहती रही, यह कोई मां ही जान सकती है। अंतत: युद्ध की नौबत आ गई। तब कुंती ने अपने पुत्रों को जो संदेश भेजा वह कुंती के क्षत्राणी रूप और सम्मान का परिचय देने वाला है। उसने कहलवाया- 'अब तक तुम सब चुपचाप अनाचार सहते रहे हो, तुम्हारी माननीया पत्नी का घोर अपमान किया गया, उसके बाद भी तुम शांति-शांति का आह्वान करते रहे हो- इससे अब लोक में तुम्हारी निंदा होती है। तुमको क्लीव और कायर कहा जाता है।...पौरुष से ही जीवन में सब कुछ मिलता है, अब वही अवसर आ गया है। अब तुम सब अपने पौरुष से अपने अधिकार प्राप्त करके अपने अपमान का प्रतिकार करो...।'

कुंती एक तेजस्विनी, ममतापूर्ण माता के रूप में उभरकर आती है। महासमर के पंद्रह वर्ष बाद जब धृतराष्ट्र और गांधारी जीवन का अंत कर देने के संकल्प के साथ वनगमन करते हैं, उस समय कुंती भी उनके साथ हो लेती है। कुंती ने अपने इस लंबे संघर्ष के जीवन के अंतिम दिन पावन व्रत, संकल्प और ध्यान में व्यतीत किए और अंतत: दावानल से भस्म होकर अपना जीवन त्याग दिया।

इस क्रम में चौथा उपन्यास है *देवकी*। कंस अपने श्वसुर जरासंध की शह और अपनी पत्नियों की प्रेरणा से इतना नृशंस व क्रूर बन गया कि उसने अपने पिता उग्रसेन को जेल में डाल दिया। स्वयं राजा बन बैठा और अपनी फुफेरी बहन देवकी- जिसे वह पहले बहुत प्यार करता था- को तथा बहनोई वासुदेव को इस कारण कारावास में डाल दिया क्योंकि एक भविष्वाणी के अनुसार उसे पता चला कि उनकी संतान ही कंस का वध करेगी। कारावास में ही उत्पन्न उनकी सात संतानें उत्पन्न हुईं, जिन्हें कंस ने जन्मते ही मरवा दिया। इस उपन्यास में देवकी के चरित्र पर कम और कंस, जरासंध तथा राजा उग्रसेन के जीवन की घटनाओं का अधिक उल्लेख मिलता है।

रुक्मिणी उपन्यास में यों तो रुक्मिणी का सीधा संबंध महाभारत से नहीं है। किंतु देवकीनंदन कृष्ण के कारण तथा जिस तरह रुक्मिणी का स्वयंवर एक बार स्थगित हुआ और दूसरी बार भी यादवों की अवहेलना की गई, क्योंकि यादवों- कृष्ण, बलराम- द्वारा कंस का वध किए जाने से राजनीतिक समीकरण पूर्णत: प्रभावित हुए थे, तो यदुवंशी कृष्ण ने रुक्मिणी का अपहरण कर लिया- इन दीर्घकालिक, सुदूरगामी प्रभावों के कारण व्यापक कथ्य को लेखक को समेटना पड़ा। विदर्भ के राजा भीष्मक की पुत्री थी रुक्मिणी और रुक्मी उसका भाई था। अत्यंत बलशाली योद्धा होने के साथ अत्यधिक घमंडी और बड़बोला भी था, इस कारण महासमर के समय यादवों और कौरवों ने उसको साथ नहीं लिया, उसकी उपेक्षा की। रुक्मी अपनी बहन का विवाह जरासंध को प्रसन्न करने की खातिर शिशुपाल से करना चाहता था, किंतु रुक्मिणी लोकनायक कृष्ण के प्रति अनुरक्त थी। अत: उसने कृष्ण को संवाद भेजकर अपनी व्यथा बताई और समर्पण व्यक्त कर दिया। विवाह की पूर्व संध्या पर जब रुक्मिणी मंदिर में पूजन करने जा रही थी, उस समय कृष्ण ने उसका अपहरण कर लिया। कृष्ण के पीछे अपनी चतुरंगिनी सेना के साथ हलधर बलभद्र भी आ पहुंचे। जरासंध और शिशुपाल पराजित हुए।

नारी के स्वातंत्र्य और स्वावलंबन के पक्ष में रुक्मिणी का संघर्ष मूलत: कन्या को अपने प्रियतम- इच्छित पुरुष को पाने का संघर्ष है' यही इस उपन्यास की रचना का मुख्य हेतु है। अपनी निष्ठा के बल पर एकाकी युवती अपने प्रिय-पुरुष को अनेक बाधाओं- विपरीतताओं के रहते भी पाने में कैसे सफल होती है; प्रस्तुत उपन्यास-शृंखला की यह कड़ी इसी तथ्य को सिद्ध करती है। अन्यथा लेखक के शब्दों में, 'महाभारत के मूल कथासूत्र से सीधे संयुक्त न होने पर भी रुक्मिणी के बिना यह शृंखला अधूरी ही रह जाती।'

नारी-मन की गरिमा, गहनता और गतिशील किंतु शाश्वत प्रवृत्ति के कुछ लक्षण-तत्व *पांचाली* उपन्यास में रेखांकित किए जा सकते हैं। एक स्थल (पृ. 55) पर लेखक *पांचाली* और कुंती के संवाद के माध्यम से इस पक्ष को उभारता है कि पत्नी अपने पति की गूढ़ार्थों में एक तरह से मां भी होती है। पांचाली कुंती से कहती है- 'अब मुझे अनुभव होता है, अंबा कि तुमने किस प्रकार अपने पुत्रों का पालन किया होगा। इसमें श्रम तो है किंतु आनंद भी तो है न!' उत्तर में कुंती कहती है- 'यह तो तुमको तब अनुभव होगा, वधू, जब तुम पुत्रवती होकर उनका सुख अनुभव करोगी।' इस पर पांचाली कहती है- 'वह तो कर ही रही हूं, अंबा। वासुदेव ने तो ऐसा मंत्र दिया कि अब ये सब मुझे अपनी संतान ही लगते हैं। इनको तृप्त होते देखकर वास्तव में अपार सुख मिलता है। तुमको तो इस सुख का अनुभव है, अंबा।'

नारी के मातृरूप की गरिमा पांचाली-द्रौपदी अंत तक निभाती है। घोरतम अपमान को सहती हुई भी वह उदारता को नहीं छोड़ती- काम्यक वन में बलपूर्वक उसका अपहरण करने वाले जयद्रथ तक को प्राणदंड तथा दासता से मुक्त करवाती है और कीचक को क्षमा करती है तथा अश्वत्थामा, जिसने उसके भाइयों- धृष्टद्युम्न तथा शिखंडी तथा पांचालों का वध कर डाला, द्रौपदी के पांचों पुत्रों को मार डाला, ऐसे नृशंस अपराधी अश्वत्थामा को भी जीवित ही छोड़ देने को सहमत हो जाती है। पिता द्रुपद द्वारा रचाए गए स्वयंवर में अर्जुन ने निर्धारित असंभव-से लक्ष्य को बेधकर उसे प्राप्त किया। माता कुंती के आदेश के कारण पांचों पांडवों की पत्नी बनकर रहना पड़ा। द्यूत-क्रीड़ा में परास्त पांडवों द्वारा हार दी गई द्रौपदी जो विलाप करती है, उसमें उसकी

अवशता के साथ-साथ तेजस्विता भी झलकती है- 'मैं प्रतापी द्रुपद की पुत्री हूं...यज्ञ से जन्म लेने वाले महापराक्रमी पांचाल योद्धा धृष्टद्युम्न की अनुजा हूं, ..पृथ्वी को जीतकर राजसूय यज्ञ करने वाले अपराजेय भरतवंशी पांडवों की महारानी हूं...कुलशील तथा पराक्रम के लिए विख्यात कुरुकुल की महामाननीया वधू हूं और यादवकुल के शिरोमणि आप जैसे परमशक्तिशाली लोकनायक वासुदेव कृष्ण की अनन्य सखी हूं...फिर भी उस भरी हुई राजसभा में केश पकड़कर मुझे घसीटा गया, किसी हीन दासी की भांति अनाथ समझकर मेरे पवित्र अंगों का स्पर्श किया गया...मैं रजस्वला थी...एकवसना थी...उस स्थिति में भी मुझे निर्वस्त्र किए जाने का जघन्य प्रयास किया जा रहा था...और यह सब तब हो रहा था जब उस सभा में मेरे पांचों पति उपस्थित थे और कुल के एक से बढ़कर एक पराक्रमी पुरुष भी वहां बैठे थे। उस समय किसी ने मेरी रक्षा नहीं की। पापी दुर्योधन मेरा अपमान करता रहा और नीच दु:शासन हर प्रकार से मेरी मर्यादा का हरण करने पर तुला रहा...।' अर्थात समूची राजसत्ता और पुरुषवर्ग पांचाली की विवशता और घोर अपमान से उपजे चीत्कार की अनदेखी करते रहे। क्या यह चीत्कार युगों के अंतराल को पार करता हुआ आज तक नहीं चला आया? पांचाली वस्तुत: मानवता के इतिहास की अति गौरवमयी शक्ति और गरिमा की मर्यादाओं को निभाती अकेली नारी है, जिसने दुर्वह स्थितियों में अपना संतुलन नहीं खोया। अंत में भी पतियों के साथ सच्ची सहधर्मिणी की भांति जीने के लिए चल पड़ी और हिमालय में ही चिरसमाधि में लीन हो गई।

कालजयी महाकाव्य *महाभारत* को आधार बनाकर रचे गए ये छहों उपन्यास अपने सहज भाषा प्रवाह और घटनाओं के अन्वित वर्णनों के कारण आद्यंत बांधते हैं। जिज्ञासु पाठक, महाभारत की कथा से पूर्वपरिचित होने के बावजूद रचनात्मक रस में बंधा हुआ नवता का अनुभव करता है। लेखक ने कुछ काल्पनिक प्रसंगों को तर्कमय अर्थ-संगति में ऐसे प्रस्तुत किया है, जो कहीं भी खलते नहीं बल्कि सुग्राह्य बन पड़े हैं। देव जातियों, गंधर्वों, किन्नरों, आदि के संदर्भ पाठकों को सहज जान पड़ते हैं। इन प्रसंगों में अज्ञातवास में भीम का गंधर्व के रूप में अचानक प्रकट होकर पांचाली की रक्षा करना बड़ा रोचक और तर्कसंगत बन पड़ा है, क्योंकि पांचाली द्वारा भीम को पूर्व सूचना रहती है। अत: गंधर्व, किन्नर आदि भी मानवों के समान ही हैं किंतु अपने विशिष्ट गुणों के कारण भिन्न माने जाते हैं।

आज नारीमुक्ति और अधिकारों को लेकर भारत में एक बहस चल रही है। ऐसे में इन छह उपन्यासों में भारत की महाभारत कालीन नारी के माध्यम से मूल्यों-मर्यादाओं और मुक्ति जैसे मुद्दों को सामने लाना सचमुच महत्वपूर्ण है, क्योंकि महाभारत को 'पांचवां वेद' कहा गया है और यह भी मान्यता है कि जो महाभारत में नहीं, वह अन्यत्र भी नहीं। अत: भारतीय समाज में नारी की प्राय: सभी दशाओं-भूमिकाओं को सामने लाकर लेखक ने उक्त बहस को एक गहन-गंभीर आयाम और उत्तेजना प्रदान की है, बहस को उथलेपन की अपेक्षा ऐतिहासिक-पौराणिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। नारी की वर्तमान आंदोलनकारी भूमिका में एक पूर्ण-परिप्रेक्ष्य सामने ला दिया है। जहां कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं।

त्रेता-पूर्व के वेद-कालीन समाज में ऋषि-कुलों में साथ-साथ विद्याध्ययन करने और समाज में वर्ग या अर्थ या वर्ण के विभाजनों से पूर्व की नारी-समानता-गरिमा बाद के युगों में क्यों नहीं बच पाई? क्या सिर्फ बाह्य तत्वों- आक्रमणकारियों के कारण ही ऐसा हुआ या भीतर भी - पुरुष-आकांक्षाओं ने नारी को दोयम दर्जे पर धकेलने की भूमिका निभाई? और कि लाख कोशिशों के बाद भी वह समानता-गरिमा क्यों नहीं लौट पा रही? तो क्या इसका कारण मात्र जैविक- लैंगिक अक्षमता या भिन्नता है?

यहां हमारा तर्क है कि वेदकालीन समाज में आदिम साम्यवाद (अमृतपाद डांगे) के चलते आर्थिक-विभेदविहीन स्तर पर नारी-गरिमा एवं समानता यदि निभ सकती है तो फिर वर्तमान में इस मूल कारण को हटाकर क्यों नहीं देखा जा सकता? त्रेता में राम के युग में सीता-स्वयंवर की घटना राजाओं के परस्पर टकराते अहंकार के विस्फोट को सामने लाती है। महाभारत में द्वापर में कृष्ण-युग तो उसके विस्फारित स्वरूप के वीभत्स का प्रदर्शन करता है। यदि वर्तमान सभ्यता का ग्राफ विकास के विशोक्षण को साधिकार वहन करना चाहता है तो क्या उसे 'लैंगिक भिन्नता' को 'लैंगिक समानता' में नहीं देखना चाहिए और कि 'नारी-गरिमा' के यथार्थ को चरितार्थ नहीं करना चाहिए? ऐसे में पाश्चात्य नारीवादी आंदोलनकारी सीमान द बुवा के इस कथन का सहारा लेना कितना नैतिक लगता है कि 'नारीवादी आंदोलन के डेढ़ दशक में फ्रांसीसी महिलाओं का जिस बड़े पैमाने पर यौन-शोषण हुआ, उतना फ्रांसीसी इतिहास में किसी भी दौर में नहीं हुआ था।' क्योंकि फ्रांसीसी समाज भी पूंजीवादी रोग से ग्रस्त पुरुषवर्चस्वापन्न समाज है। इसी कारण दमन और प्रतिक्रियात्मक अहं-विस्फोट के रूप में उक्त अभूतपूर्व यौन-शोषण सामने आया। यह क्या अपने आप में पुरुष-अहं का विस्फारित प्रमाण नहीं? इसके अतिरिक्त नारीवादी आंदोलन की विफलता, पूंजीपतियों, जन-मजदूर-विरोधी सत्ताओं द्वारा चलाए गए दमनचक्रों के नीचे कुचले गए आंदोलनों की कोटि में रखकर नहीं देखा जाना चाहिए? क्या उक्त कथन से पुरुष-वर्चस्व और सड़ रहे पूंजीवाद के अहंकार की शक्तिमुखी दमनकारिता की बू नहीं आती?

हां, भारत जैसे समाज के लिए इससे यह सीख ले लेनी चाहिए कि यदि वास्तव में नारी यहां पूज्य है तो उत्तर-आधुनिक, खुले, मानवीय समानाधिकार वाले भावी समाज की रचना के लिए फ्रांसीसी समाज के उक्त लांछनापूर्ण व्यवहार से पृथक व्यवहार करके अपनी सदाशयी मानवी परंपरा और संस्कृति के सुकाल को घटित करने की ओर सप्रयास सजग प्रचार करना होगा।

इधर भारत में देखने में यह तथ्य उभरकर आया है कि साम्यवादी विचार के कुछ लेखक-आलोचक नारी-मुक्ति आंदोलन के साथ थोड़ी दूरी तक ही साथ हैं, उससे आगे नहीं। क्योंकि तब पुरुष-नारी के विभाजित हो जाने से उनके प्रगतिवादी-मार्क्सवादी दार्शनिक आधार को व्यावहारिक धक्का पहुंचता है। समग्र शोषित समाज के पुरुष-नारी के उपवर्गों में बंटने की संभावनाएं सामने आती हैं। यदि पुरुष-नारी का वर्ग समवेत-एकजुट रहता है तो पूंजीवादी ताकतों के विरुद्ध संघर्ष भी एकजुट रह सकता है। यही सोच 'दलित आंदोलन' के संबंध में भी सामने आया है। दोनों आंदोलनों में संदर्भों की समानता अपने आप में स्पष्ट है। नारीवादी आंदोलन के सिलसिले में गहन विश्लेषण और दलीलें विदेशी विद्वान पैरी ऐंडसन ने दी हैं (*इन द टैक्सट आफ हिस्टारिकल मैटीरियलिज्म*, वर्सो, लंदन, 1984) कि मजदूरों की आर्थिक वर्गीय एकता की भांति ही (नारी की वर्गीय एकता के अभाव में वर्गीय दृष्टि उपवर्ग में बंटने की स्थितियां होने से) सुदृढ़ एकता सुनिश्चित नहीं है।

अंतत: भारत के वर्तमान समाज को, जो कि जाति-संप्रदाय-वर्ण-वर्ग के विभाजनों में पहले से बंद हुआ- रुग्ण एवं अवरुद्ध है, पुन: समानता, न्याय, संवेदना, मानवीयता की दिशा में अपनी जीवंत, वेदकालीन परंपरा और संस्कृति की दिशा में नारीमुक्ति के लिए अकुंठ भाव से नहीं बढ़ना होगा? □

समीक्षा

•

उपन्यास

नव सामंती व्यवस्था का बेबाक चित्रण

आग-पानी आकाश : रामधारी सिंह दिवाकर; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 151; मूल्य : 125 रुपये।

दलित चेतना को लेकर पिछले कुछ वर्षों से लेखन में ज्वार आ गया है और इसी दलित चेतना के ज्वार में अनेक स्तरीय पुस्तकें और कई दलित लेखक सामने आए हैं। इनमें कई लेखकों ने अपने निज की पीड़ा, कथा और दुख को कैनवास पर उतारकर जन की पीड़ा के रूप में अभिव्यक्ति दी है और वास्तविक अर्थों में दलित साहित्य का सृजन हुआ है। यह भी सच है कि दलित साहित्य के नाम पर काफी कुछ ऐसा लिखा जा रहा है जिसे दलित साहित्य तो दूर, साहित्य की कोटि में भी नहीं रखा जा सकता। वर्ग चेतना के कारण ही अच्छे साहित्य का सृजन हुआ है और अपने दुखाय को समूचे समाज की पीड़ा के रूप में, अभाव के रूप में उभारा गया है, तब वह दुख, पीड़ा, अभाव पाठक को झिंझोड़कर रख देते हैं। पाठक की कोई जाति या वर्ग नहीं होता। वैसे इधर जातीय अस्मिता या वर्ग चेतना के नाम पर जातीय विद्वेष फैलाने का भी एक फैशन अपनाया जाने लगा है और चर्चा में आने के मौके भी ढूंढे जाने लगे हैं।

अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी दलित चेतना पर काफी कुछ लिखा जा रहा है और इससे यह बात तो स्पष्ट हो गई है कि अब दलित साहित्य साहित्य का ही एक हिस्सा है और इससे साहित्य समृद्ध हो रहा है।

दलित चेतना और संघर्ष, सवर्णों के अत्याचार जैसी विचारोत्तेजक घटनाएं होती हैं। आज भी सभ्य समाज में दलितों की उत्पीड़न की अनेक घटनाएं विभिन्न माध्यमों से प्रकाश में आती हैं। यह सभ्य समाज का अंधेरा पक्ष है, जहां धीरे-धीरे उजाला फैल रहा है। अब दलित अपने उत्पीड़न और दमन को चुपचाप नहीं सहता बल्कि उसके खिलाफ उठ खड़ा होता है। दलित साहित्य में अमानवीय उत्पीड़न की गाथा मिलती है लेकिन रामधारी सिंह दिवाकर का उपन्यास *आग-पानी आकाश* एक ऐसी नव सामंती व्यवस्था से सामना कराता है जो उस समाज में तेजी से फैलती जा रही है जिसने आरक्षण की सुविधा की वजह से शासन और प्रशासन में अपनी जगह बना ली है और अपनी ही जाति के लोग उसके लिए बराबर में बैठने काबिल नहीं है। वह अपनी जाति से बाहर कथित उच्च जातियों से रोटी-बेटी का संबंध स्थापित कर दलितों से अलग दिखाने में लगा हुआ है।

झिटकी-बधनगामा गांव की कहानी है *आग-पानी आकाश*, लेकिन यह गांव तो एक प्रतीक मात्र है। यहां यह धोबिया टोला है; जिसमें बब्बन धोबी का परिवार जमींदार बाबू भूपति नारायण सिंह के ही कपड़े धोता है। इस परिवार को उनके पिता ने लाकर बसाया था। यह धोबी परिवार स्वयं को अन्य धोबियों से विशिष्ट मानता है क्योंकि वह आम आदमी के कपड़े नहीं धोता सिर्फ जमींदार-परिवार के कपड़े धोता है। इसीलिए- उसने भगवत रजक और युगेश्वर रजक की जगह अपने बेटों के नाम लिखाए- भागवत प्रसाद वैश्यंत्री और युगेश्वर प्रसाद वैश्यंत्री। यह 'वैश्यंत्री' पदवी दरभंगा राज से जुड़े धोबियों से बब्बन ने सीखी थी। जातिबोधक नई संज्ञा से कस्बे के दूसरे धोबी भी चकरा गए।' इसलिए चकरा गए क्योंकि बब्बन ने इससे पहले अपने नाम के आगे गांव के स्कूल में 'राजधोब वैश्य लिखाई और फिर कस्बे के सरकारी स्कूल में वैश्यंत्री।

गांव के स्कूल में भागवत्त और युगेश्वर को अनेक कटु अनुभव होते हैं, अध्यापक और बच्चों के लिए वे अछूत हैं। बब्बन धोबी के पास खेती-बाड़ी भी है, जमींदार ने जमीन दी फिर उसकी बहन झुनकी को जमींदार ने अपनी रखैल बना दिया और, कुछ और जमीन उसे दे दी। कस्बे में रहने की व्यवस्था हो गई बच्चों की- पर कमाई तो खेती बाड़ी से हो रही थी सो गांव छोड़ नहीं सकता था।

उधर जमींदार घराने की दुर्दशा शुरू हो गई। भूपति बाबू पागल हो गए। झुनकी ने शादी कर ली। उनकी छोटी पत्नी को छोटे बेटे ने गोली मार दी। भूपति बाबू को कांके विदा कर दिया- लावारिसों की तरह। बेटों में गृहयुद्ध शुरू हो गया। एक बेटे ने वेश्या टाइप नर्तकी से शादी कर नौटंकी कंपनी शुरू कर दी। महीनों बाद कांके मानसिक अस्पताल में बाबू भूपतिनारायण की मृत्यु हो गई। आठ बेटों में से एक भी नहीं गया। बड़ी पत्नी ने श्राद्ध-कर्म कराया। जमींदार परिवार का पतन और बब्बन परिवार का उत्थान शुरू हो गया।

बधनियां पोखर का धोबी घाट सूना हो गया। बब्बन परिवार की जमीन बढ़ने लगी। माटी के भाव जमींदार परिवार से जमीन मिल गई। युगेश्वर पटना कालेज में पढ़ने लगा, उसके एक रिश्ते के मामा विधायक हो गए थे- सुमरित लाल बैठा। उधर भागवत ने भी तरक्की कर ली। वह ठेकेदार हो गया, फिर उसने एक कालेज खोल लिया। नौकरियों के लिए सबसे 'बयाना राशि' ले ली और बिना वेतन नियुक्ति कर दी। अब बड़े आदमी के सारे गुण उसमें आ गए। 'झिटकी-बधनगामा में बब्बन के बेटे भागवत की तरक्की आश्चर्यजनक थी।' ...'राजड्योढ़ी पतन की अंतहीन कथा बन गई थी।...अब वही राजड्योढ़ी थी- अंग-प्रत्यंग कटी हुई प्रतिमा की तरह। जो भाई जितना हथिया सका, उसके अधिकार में आ गया।'

एक रामसजीवन भी है। अपनी जाति के इंस्पेक्टर के घर जाकर उसे लगा- ये इंस्पेक्टर साहब क्या चमार हैं? रामसजीवन को शंका हुई। अगर ये चमार हों भी तो चमार नहीं है।' इंसपेक्टर का बेटा आलोक कुमार उसका दोस्त था, लेकिन उसके घर जाकर उसके साथ जो कुछ हुआ उससे उसने स्वयं को अपमानित महसूस किया। भागवत और युगेश्वर ने भी उसे कम अपमानित नहीं किया। युगेश्वर क्लास वन सर्विस में लगा और अपने जाति भाइयों से नफरत करने लगा। बचपन में शादी हो गई थी लेकिन उसने ससुराल से संपर्क नहीं रखा। आखिर उसके ससुर ने ही अपनी बेटी का संबंध एक ड्रेसर से कर दिया। कुछ महीनों बाद युगेश्वर ने कामना घोष नामक लड़की से शादी कर ली। अब वह पूरी तरह इलीट था। जिस चाची ने शहर में स्वयं अभाव में रहकर उसका ध्यान रखा था, उसने अपनी चाची को ही नहीं पहचाना। पहचाना तो उसके ड्राइवर ने और रामसजीवन ने। भूपति बाबू के आवारा बेटे बाबू दिग्विजय नारायण चार-पांच साल से जेल में सड़ रहे थे, भागवत बाबू ने उन्हें छुड़ाया और ड्राइवर नियुक्त कर दिया। उनके एक मित्र हैं डा. दीवान- जो हर गलत काम में भागवत बाबू के सहभागी हैं।

आई.ए.एस. वाई.पी. वैश्यंत्री उर्फ युगेश्वर के निराले ठाठ हैं। सरकारी सेवाओं में हरिजनों के आरक्षण प्रावधान के बारे में रामसजीवन उनसे बात करने जाता है। वे एकाएक बिगड़ पड़े- 'हरिजन!...हरिजन! ये साले हरिजन कभी क्या सुधरेंगे? मैंने हरिजनों का ठेका नहीं ले रखा है रामसजीवन। हरिजनों की बात मुझसे मत किया करो। तुम्हारी अपनी कोई समस्या है तो कहो।...'

उपन्यास में दलितों की बेचारगी का जीवंत चित्रण है तो उन्हीं दलितों में से ऊपर उठ गए

राजनेताओं और अफसरों की अपनी ही बिरादरी के प्रति बरती जा रही उपेक्षा है, जहां वे अपनी बिरादरी के लोगों के उत्थान के लिए कुछ भी नहीं करते हैं।

दिवाकर ने अपने इस उपन्यास में दलितों की अंतर्कथा को बड़ी बेबाकी से उजागर किया है। जहां एक ओर सामंती व्यवस्था टूट रही है लेकिन दूसरी ओर एक और नवसामंती व्यवस्था अपने पंजे फैला रही है, अपने निहित स्वार्थों के लिए नव सामंती व्यवस्था के ये अलंबरदार किसी भी सीमा तक जाने में कोई संकोच महसूस नहीं करते हैं। दलितों के शोषण और दमन का जीवंत चित्रण इस उपन्यास में किया गया है, और वह भी दलितों द्वारा ही, जिसमें गैर-दलितों का खुलकर इस्तेमाल किया जा सकता है।

उपन्यास की भाषा उपन्यास को उस पूरे माहौल के साथ फिट कर देती है और ऐसा लगता है कि जैसे आज भी गांव के लोग आदिम युग में जीने के लिए विवश हैं।

—देवेंद्र उपाध्याय

बुनियादी यथार्थ की अभिव्यक्ति

अकेले-अकेले साथ : हरिमोहन, समानांतर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या : 100, मूल्य 75 रुपये।

साहित्य की विविध विधाओं में सार्थक सृजन कर उसे समृद्ध करने वाले रचनाकारों में डा. हरिमोहन की पहचान रू-ब-रू होती है। कविता ने उन्होंने पहचान दिलाई तो कहानी ने प्रभाव प्रदान किया। *अकेले-अकेले साथ* उनकी लघु औपन्यासिक कृति है जिसे एक लंबी कहानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। दरअसल, कभी-कभी कथाकार कहानी लिखने के क्रम में कथ्य को खींचता जाता है और इस खींच-तान में कहानी लंबी बन जाती है और उपन्यास का रूप ले लेती है।

अकेले-अकेले साथ की कथा में जहां जीवनगत बुनियादी यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है, वहीं मनोवैज्ञानिकता भी है। कहानीकार ने कहानी को ही पात्र के वेश में मानवीकृत करने का मौलिक प्रयोग किया है। यह फंतासीनुमा है। आरंभ में 'अकेले-अकेल' और 'साथ' शीर्षक से दो कविताएं इसमें रची गई हैं जिनके कथ्य को कृति का आधार कह सकते हैं। लेखक की अनुभूति का यह कथ्यात्मक आयाम प्रेम-प्रसंगों से शुरू होकर मनस्थितियों के अंकन पर समाप्त होता है। जग-जीवन को लेकर लेखक ने जो कथा-रूप प्रस्तुत किया है, वह कहीं वस्तुपरक या कि वस्तुनिष्ठ सर्जना की सजगता है। इसके लिए उसने कहीं शहरी परिवेश और पहाड़ की समाजी जिंदगी का सजीव चित्रण किया है और उसमें नारी-मन की स्थितियों और उसकी नियति की गांठ खोलती है। तथापि गांठ खोजने में जो कलात्मक प्रवाह है, वह कहानी में होना लाजिमी है, वह यहां अवरुद्ध हुआ (भी) लगता है किंतु कथ्य की रोचकता पठनीयता को पकड़े रहती है। यह लेखक की प्रतिभा शक्ति का चमत्कार ही कहा जाएगा।

कहानी प्रकृति परिदृश्यों से प्रारंभ होती है। शाम! फिर रात! रात की कालिमा में अमृता के मन में भय, विस्मय व्याप्त होता है। घुटन भर जाती है। इसलिए वह अपने को परावलंबी, शक्तिहीन महसूस करती है। कृति के पात्रों में आत्म-संघर्ष और चेतना-शक्ति है। अमृता के अतिरिक्त गुरविंदर, अरुणी, सुकांत, अमिला, दिव्यांशु तथा कविता आदि पात्र-चरित्र हैं जो स्त्री-पुरुष के सहज संबंधों-संघर्षों को उजागर करते हैं। स्त्री पीड़ा का मर्मांतक वर्णन और उसकी नियति की विडंबना का दर्शन इसमें प्राय: होता है। अकेलेपन की गहरी रसानुभूति भी कराती है। नैतिकता को लेकर कविता कोई कुंठा नहीं पालती, बल्कि आत्मिक-बोध से भरकर उन्मुक्त जीवन जीने की आकांक्षा रखती है। केतु अमृता को दिशा-दृष्टि देती है। कथा की संवेदनशीलता आद्यंत बनी हुई है।

इसमें दार्शनिकता की अभिव्यक्ति के बावजूद कथात्मकता कहीं बोझिल नहीं लगती है। तत्व-चिंतन के संदर्भ में कहानी का कथन गौरतलब है, 'मुक्ति तक संसार है। ज्योंही मुक्ति का आरंभ होता है, संसार समाप्त हो जाता है।' उसी तरह अरुधी का वक्तव्य, 'सुख-दुख हमारे ही निर्धारित किए हुए हैं। दुख की कोई सीमा नहीं होती। न सुख की। हां दुख हमारे सामर्थ्य को बढ़ाता है।' (पृ. 9) कह सकते हैं कि इस उपन्यास में सूक्तियां अच्छी हैं किंतु कथात्मकता और दार्शनिकता के द्वंद्व में उनका अपना स्वतंत्र प्रभाव दब-सा गया है। कहा जा सकता है कि यह उपन्यासकार एक अच्छा सूक्तिकार बनने की संभावनाएं रखता है।

समीक्ष्य कृति में कोलाजी स्टाइल है। किंतु यह स्टाइल कविता के संदर्भ जितना प्रभावी होता है कथा के संदर्भ में उससे ज्यादा क्षति पहुंचाने वाला होता है। कृति को पढ़कर ऐसा महसूस होता है। भाषा सहज और सरल है जिससे संप्रेषणीयता की दृष्टि से कृति की पठनीयता प्रभावशाली हैं। कथोपकथन भी चुभते हुए हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से निश्चित रूप से यह कृति विशिष्ट बन पड़ी है और आशा बंधाती है कि हरिमोहन की आगामी कथात्मक कृति इससे बढ़कर होगी।

—राहुल

सहयोगी रचनाकार

देवेंद्र चौबे : भारतीय भाषा केंद्र, भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110 067

मनोज कुमार सैन : 23, पोतीबाग गांव, नई दिल्ली-110 021

देवदत्त कौशल : 1206, सेक्टर-15, पंचकूला-134 113 (हरियाणा)

जगदीश प्रसाद डरनवाल 'बुंद' : रेलवे स्टेशन बाजार, आजमगढ़-276 001

विष्णुनाथ गुप्त : बी-91, पाकेट बी, मयूर विहार फेज-2, नई दिल्ली-110 091

युद्धवीर सिंह : 363, समयपुर, दिल्ली-110 042

बलदेव वंशी : ए-3/283, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110 063

देवेंद्र उपाध्याय : सी-7/18 ए, लारेंस रोड, दिल्ली-110 035

राहुल : 'साहित्य कुटीर', 44 साइट-2, विकासपुरी, नई दिल्ली-110 018

विद्या गुप्ता : 160 श्री सदन, आर्य नगर, दुर्ग-491 001 (म.प्र.)

रवि सक्सेना : के पी 9.624 वैजयन्त चेट्टिकुन्नु मेडिकल कालेज, पो. आ. तिरुवनन्तपुरम्-695 011 (केरल)

अमरनाथ श्रीवास्तव : अ /215 गोविन्दपुर कालोनी, इलाहाबाद-211 004 (उ.प्र.)

ओ.पी. श्रीवास्तव : डी- 1294, पिकनिक स्पाट रोड, इंदिरा नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

शिवानंद मिश्र 'बिंदौरी' : डब्ल्यू-251, आवास विकास कालोनी, गोंडा-271 002 (उ.प्र.)

राधेश्याम तिवारी : एफ-119/1, फेज-II, अंकुर एनक्लेव, करावल नगर, दिल्ली-110 094

Information is Power : Be Informed.



Read

YOJANA

A monthly journal, the only one of its kind, covering the whole gamut of development, socio-economic issues and current affairs.

Published in Assamese, Bengali, English, Gujarati, Hindi, Kannada, Malayalam, Marathi, Oriya, Punjabi, Tamil, Telugu and Urdu - reaching out to people country-wide.

Join the ranks of 5,00,000 discerning readers who opt for YOJANA.

YOJANA has incisive, authentic and well researched articles written by experts.

Have a cutting edge, be ahead of others. Subscribe today.

Subscription Rates : 1 Yr. - Rs.70/-; 2 Yrs. - Rs.135/-; 3 Yrs. - Rs.190/-.

Subscription by DD / MO / IPO in the name of Director, Publications Division, can be sent to :

The Advertisement & Circulation Manager, Publications Division, East Block-IV, Level-VII, R.K. Puram, New Delhi-110066.
Tel. 6105590; Fax: 6175516 / 6193012.

Subscriptions will also be accepted at our sales emporia:

• Patiala House, Tilak Marg, **New Delhi**, Ph. 011-3387983, • Super Bazar, Connaught Circus, **New Delhi**, Ph. 011-3313308; • Hall No.196, Old Secretariat, **Delhi**, Ph. 011-3968906; • Rajaji Bhavan, Besant Nagar, **Chennai**, Ph. 044-4917673; • 8, Esplanade East, **Calcutta**, Ph. 033-2488030; • Bihar State Cooperative Building, Ashoka Rajpath, **Patna**, Ph. 0612-653823; • Press Road, **Thiruvananthapuram**, Ph. 0471-330650; • 27/6, Ram Mohan Rai Marg, **Lucknow**, Ph. 0522-208004; • Commerce House, Currimbhoy Road, Ballard Pier, **Mumbai**, Ph. 022-2610081; • State Archaeological Museum Building, Public Gardens, **Hyderabad**, Ph. 040-236393; • 1st Floor, F-Wing, Kendriya Sadan. Koramangala, **Bangalore**, Ph. 080-5537244; • C.G.O. Bhavan, 'A' Wing, A.B. Road, **Indore**; • 80, Malviya Nagar, **Bhopal**; • B-7/B, Bhawani Singh Road, **Jaipur**.

For Yojana Tamil, Telugu, Malayalam, Kannada, Gujarati, Marathi, Bengali and Assamese, please enrol yourself with Editors of the respective magazines at the addresses given below:

Editor, Yojana (Marathi), Room No.38, 4th Floor, Yusuf Building, Veer Nariman Road, **Mumbai**, Ph. 022-2040461;

Editor, Yojana (Gujarati), Ambika Complex, 1st Floor, Above UCO Bank, Paldi, **Ahmedabad**, Ph. 079-6638670;

Editor, Yojana (Assamese), Naujan Road, Uzan Bazar, **Guwahati**, Ph. 0361-516792;

Editor, Yojana (Bengali), 8, Esplanade East, Ground Floor, **Calcutta**, Ph. 033-2482576;

Editor, Yojana (Tamil), 'A' Wing, Ground Floor, Shastri Bhavan, **Chennai**, Ph. 044-8272382;

Editor, Yojana (Telugu), 10-2-1, F.D.C. Complex, AC Guards, **Hyderabad**, Ph. 040-236579;

Editor, Yojana (Malayalam), 'Reshmi', 14/916, Vazhuthacadu, **Thiruvananthapuram**, Ph. 0471-63826;

Editor, Yojana (Kannada), 1st Floor, 'F' Wing, Kendriya Sadan, Koramangala, **Bangalore**, Ph. 080-5537244.

डाक तार पंजीयन सं. डी.एल./ 12035/2000 बिना पूर्व भुगतान के डी.पी.एस.ओ., दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी.एन.)-49/2000 प्राप्त
Postal Regn No. DL/ 12035/2000 दिल्ली डाक • आर.एन. 701/57
Licenced U (DN)-49/2000 to post without pre-payment of DPSO. Delhi Delhi Postal • R.N. 701/57



सुरिन्द्र कौर, निदेशक, प्रकाशन विभाग द्वारा पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 से प्रकाशित एवं मुद्रित तथा आकाशदीप प्रिन्टर्स, 20 अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 में मुद्रित। **संपादक : सुभाष सेतिया**